द्रव्य-दृष्टि प्रकाश

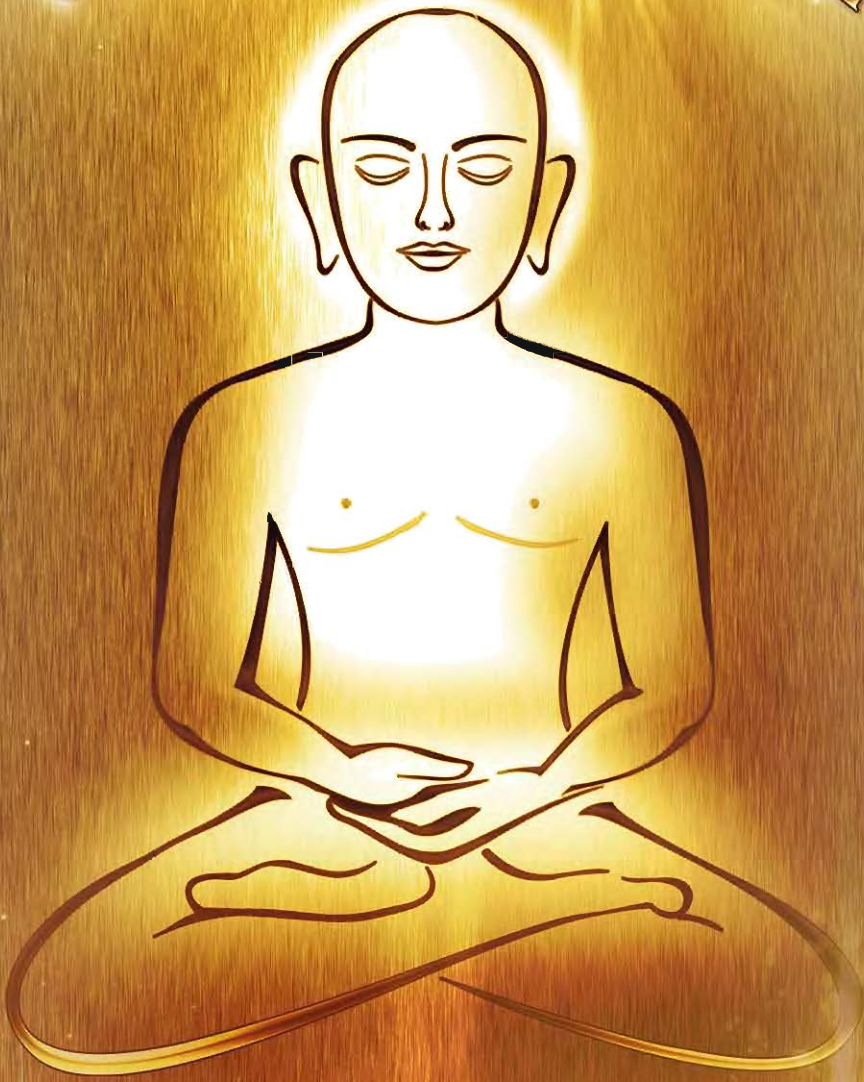

ॐ

श्री परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि-प्रकाश

तीनों खण्ड

प्रकाशक

पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी परिवार,

कोलकाता / मुम्बई

Dravya Drushti Prakash - Copyright © & P 2011

All Rights Reserved. Without Limiting, The Rights Under Copyright Reserved Above. No Part Of This Publication May Be Reproduced. Stored Or Introduced Into A Retrieval System, Or Transmitted, In Any Form Or By Any Means (Electronic, Mechanical, Photocopying, Recording Or Otherwise), Without The Prior Written Permission Of The Copyright Owner And If Any One Does Than The Same Shall Be Prosecuted Under The Applicable Laws Of India And Indian Copyright Act, 1957.

The Paper Used In This Book Is Environmentally Friendly

First Edition Printed in 1967

10th New Revised Edition 2011
(On The Occasion of Birth Centenary Year of
Pj.Nihalchandraji Sogani 2011-2012)

Cost Price Rs.100 / US$ 3 only

Selling Price: Rs.25 / US$ 0.50

Contact :

Shri Veer Kund Kund Kahan Nihal Sogani Trust

C/o Shri Rameshchandra Sogani
174/C Jamnalal Bajaj Street, KOLKATA-700007

email : sidharthsogani@hotmail.com

Printed By
Network Prakashan,
Mumbai (India)

Available At: (INDIA)

* Teerthdham Mangalayatan:
Sasni-204216, Aligarh (U.P.)
Contact: 0571-2902977 Email: info@mangalayatan.com
* Shri Veer Kundkund Kahan Nihal Sogani Trust.
Chiranjilalji Jain
1004/B, Rupali Building, Dawn
Bhavnagar
Contact: 0278-2212180
* Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust,
302, Krishna Kunj, V. L. Mehta Marg,Vile Parle (W),
Mumbai - 400 056.
Contact: +91 22 2613 0820
Email : info@vitragvani.com
* Kund Kund Pravachan Prasaran Sansthan (KKPPS)
Mahavir Digambar Jain Mandir,
Chimanganj Mandi,
Ujjain (M.P.)
Contact: 0744-2559968/70, +91 9425091102 Email: pradeep@jhanjhari.com
* Jitubhai Modi,
Krambaddh Niwas,
45, Kahan Nagar Society,
Songadh **:364250**
Contact : +91 9662524460
* Shri Digambar Jain Mandir
43/2A Paddopukar Road
Kolkata**, 700020**
* Shri Digambar Jain Kunkund Kahan Smirti , Sabhagruh
Chaitanya Sadan
3/286-A, M.G.Road
Agra.
Contact:0562 2260215 / 09368294455
* Vitragvigyan Swadhyay Madir Trust,
Purani Mandi,
Ajmer.
Contact: +91 9320050019
* Shree Parmagam Shravak Trust,
Sonagir,
Dist. Datia(Gwalior) M.P.
Contact: 07522 / 262307, 262210
* Shree Kund-Kund Kahan Atmarthi Trust,
Ghevara Mod, Rohtak Road,
New Delhi.
Contact: 011-28351289
* Gyayak Charitable Trust,
Dhruv-Dham,
1/15, Khandu Colony,
Banswada **-327 001 (Rajasthan)**
Contact: 02962 - 240488

(UK & USA/CANADA)

* Mahavir Jain Temple,
Shri Digambar Jain Association,
1, Broadway, Harrow,
Middlesex HA3 7EH, UK.
Email:info@mahavirjaintemple.com
* Mumukshus of North America(MONA)
Ankit Sanghavi
73, Fairway Blvd, Monroe Township NJ 08831
Contact : 1-973-400-0083
Email:webmaster@jainism.us

Distribution by : **Sogani & Sons**
174/C, J.L. Bajaj Street, **Kolkata**. Tel : 033-22687718
333, Badamwadi, 1st Floor, R.No. 18, Kalbadevi Road, **Mumbai** - 2.Tel : 022-22409999

अनुक्रमणिका

1. प्रकाशकीय निवेदन 05

2. संक्षिप्त जीवन परिचय 02

3. व्यक्तित्व एवम् कृतित्व 03

4. भक्ति गीत .....

5. प्रथम खण्ड 01–84
आध्यात्मिक पत्र
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के द्वारा
साधर्मियों के प्रति लिखे गये पत्र

6. द्वितीय खण्ड 85–106
श्री श्रीगुरु–गिरा
परम पूज्य गुरुदेव श्री कहानजी स्वामी के
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के प्रति उद्‌गार ।

7. तृतीय खण्ड 107–252
तत्त्व–चर्चा
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के साथ
मुमुक्षुओं की हुई आध्यात्मिक चर्चा

ॐ

सतत दृष्टि धारा बरसाते, अखंड चैतन्य के लहरों पर सहस्र,
महान दीपोत्सव की रचना रचाते श्री गुरुदेव को अत्यंत भक्तिभाव
नमस्कार

निरीच्छ मोक्षाकांक्षी
निरीच्छु

समर्पण

पूज्य श्री सद्गुरुदेव के परम योग से एवम् उनकी अपूर्व सत् अमृतवाणी से मुझ पामर पर अपार उपकार हुआ है। यह होते-ही निज सुषुप्त चेतना तत्क्षण सहसा जाग्रत हो उठी और उन्हीं के प्रताप से इस भरतभूमि में अद्भुत और अलौकिक धर्म-प्रभावना हो रही है। इनके मुखारविंद से जिनधर्म व जिनवाणी का विशाल प्रवाह अखण्ड अटूट धारावाह बह रहा है. इस आध्यात्मिक स्रोत से निकली ज्ञानगंगा में स्नान कर अनेक जीव शुचि हो रहे हैं। अहो! **अपूर्व आध्यात्मिक सहजानंदवृत्तिधारक महान् अनुभवी, प्रखर धर्म-उपदेशक श्री कहानजी स्वामी** के करयुगल में अत्यंत अनन्य भक्तिपूर्वक विनम्रभावे यह **'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश'** समर्पण करके अत्यधिक आनंद अनुभवता हूँ।

—रमेशचंद्र सोगानी

चैतन्यमूर्ति परम उपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कहानजी स्वामी

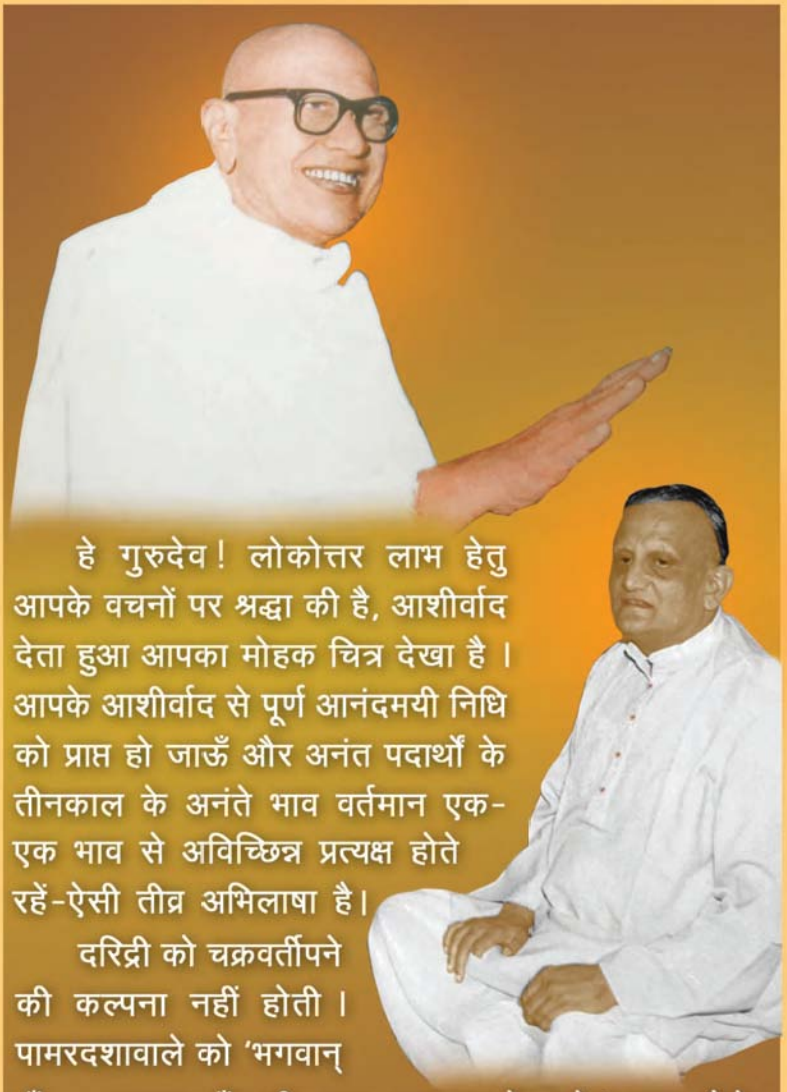

हे गुरुदेव! लोकोत्तर लाभ हेतु आपके वचनों पर श्रद्धा की है, आशीर्वाद देता हुआ आपका मोहक चित्र देखा है। आपके आशीर्वाद से पूर्ण आनंदमयी निधि को प्राप्त हो जाऊँ और अनंत पदार्थों के तीनकाल के अनंते भाव वर्तमान एक-एक भाव से अविच्छिन्न प्रत्यक्ष होते रहें-ऐसी तीव्र अभिलाषा है।

दरिद्री को चक्रवर्तीपने की कल्पना नहीं होती। पामरदशावाले को 'भगवान् हूँ.....भगवान् हूँ' की रटन लगाना, हे प्रभो! आप जैसे असाधारण निमित्त का ही कार्य है। परिणति को आत्मा ही निमित्त होवे अथवा भगवान्.....भगवान् की गुँजार करते आप; अन्य संग नहीं;-यह ही भावना।

आश्रमयोगमें कृतार्थ
हुआ भक्त

स्मरणाँजलि

धर्मस्नेही स्वजन !

आपश्री ने तीनकाल में उत्कृष्ट और महान् धर्म की भावना को अपने जीवन में सम्पूर्ण रूप से पूज्य गुरुदेवश्री की महान् कृपा से एकाकार परिणमा दिया । आपके जीवन का यही अनहद् अदम्य धार्मिक उत्साह प्रतिक्षण स्मरण में आता है । आपने यह उत्तम बोधि-बीज निज कारणपरमात्मा के आश्रय से स्पष्ट अनुभव किया और ऐसी मांगलिक भावना की कि, यह बीज वट-वृक्ष की तरह अनेक स्थानों में प्रसरे और अनेकों जीव विशाल पैमाने पर इसका लाभ लें, तथा हम सबों के लिए आपकी वृत्ति हरचंद इस तरफ़ वलण कराती है कि अपनी दृष्टि मेरी ओर से हटाकर निज-स्वयम् के पूर्ण अभेद धाम को ही लक्ष्य बनावे वही श्रेष्ठ है । अतः धर्म की प्रभावना बढ़े वह भाव भी निस्संदेह इसमें गर्भित है । हमारे लिए धार्मिक भावनारूपी बीज रोपने का महान् श्रेय आपश्री को ही है । हम लोगों के लिए आपश्री ने उत्कृष्ट धार्मिक भावना का यह सुमार्ग प्रशस्त कर दिया है । इसी भावना के योग से हमें पूज्य गुरुदेवश्री का सुयोग प्राप्त हो रहा है । अहो ! आपके हृदय में तो बस ! हर घड़ी और हर पल सोनगढ़ का व सत् महात्मा का आशीर्वाद देता हुआ चित्र ही अंकित रहा करता था । इस सत् मार्ग की ओर का वह वलण समय-समय पर आपकी भावना में ओतप्रोत रहता था । उत्तमोत्तम धर्म के संस्कार आपके पत्र द्वारा हर क्षण प्रेरणारूप हो रहे हैं । आपका यह महान् उपकार पूरे भरतक्षेत्र को उत्प्रेरित कर रहा है । ऐसे महान् संस्कारों के प्रति आपका यह परम उपकार हम सब कभी नहीं भूलेंगे-नहीं भूलेंगे । आपश्री के अनमोल हस्तलिखित पत्र, विविध सुवाक्य तथा प्रश्नोत्तर की इस पुस्तक द्वारा आपको यह स्मरणाँजलि अर्पित करते हुए ऐसी सुखद भावना भाते हैं कि, इसमें दर्शाई गई आपकी मोक्षेच्छुक भावना अति शीघ्र-अति शीघ्र पूर्ण हो ।

स्व-कुटुम्बीजन—

अनोपकुँवर
रमेशचंद्र-रमाकुमारी
कुसुमलता
नरेशचंद्र
अशोककुमार
आशालता
कुमुदलता
अनिलकुमार

पुरुषार्थमूति पूज्य श्री निहालचन्द्रजी सोगानी

जन्म
वैशाख सुद ११, वि.सं. १९६९,
दि. २७-४-१९१२,अजमेर

स्वर्गवास
ज्येष्ठ वद १२, वि.सं. २०२१,
दि ७-६-१९६४, कोलकाता

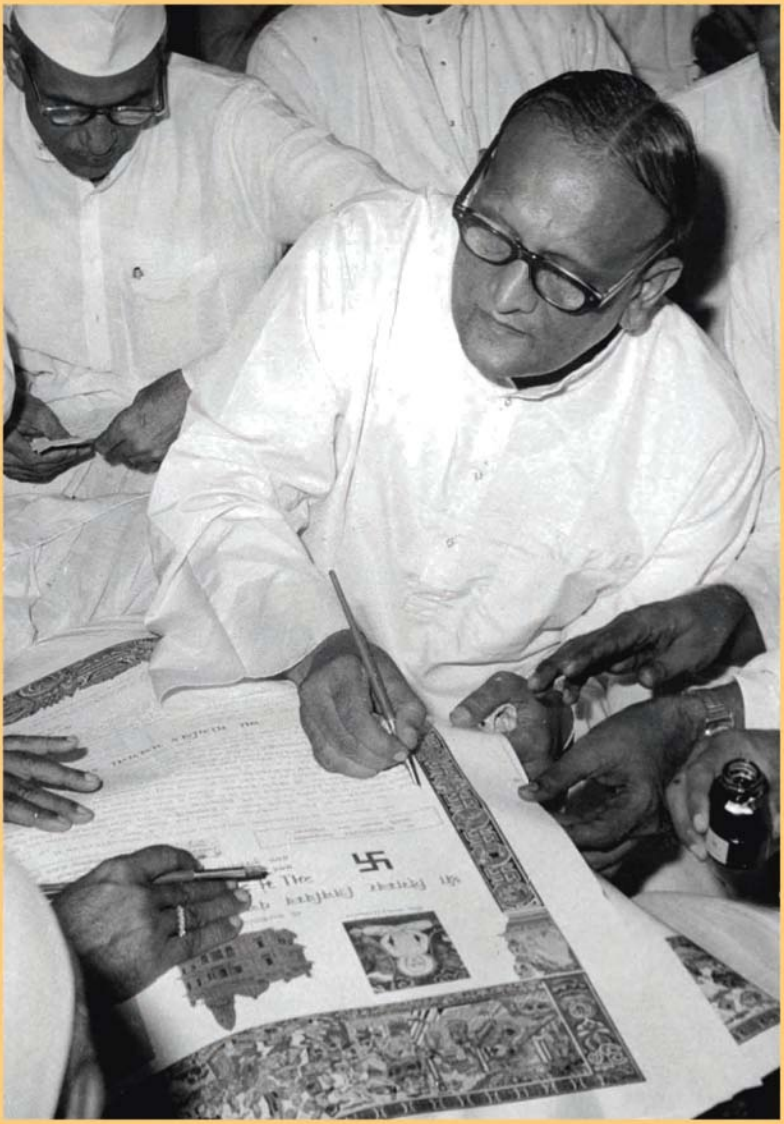

अपन तो साक्षीभाव में भी नहीं आते। अपन तो ऐसी भूमि हैं जहाँ से एक साक्षीभाव तो क्या अनंत साक्षीभाव उठते रहेंगे।

प्रकाशकीय निवेदन

[१० वाँ संवर्द्धित व संशोधित संस्करण]

प्रस्तुत 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश ग्रंथ स्वानुभूति-विभूषित, आदर्श पुरुषार्थी पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानी के द्वारा लिखे पत्रों व तात्त्विक चर्चाओं में निरूपित अध्यात्म के गहन सिद्धांतों का निरुपम संकलन है। यह ग्रंथ जैनवाङ्मय की आध्यात्मिक विधा की एक अनुपम धरोहर है।

इस जगत् में मात्र एक अपना शुद्ध कारणपरमात्मा, अंतस्तत्त्व, चिदबिम्ब, निज शाश्वत देव ही सर्वोच्च है, परम उपादेय व निःश्रेयस्कर है, परंतु ऐसे अपने टंकोत्कीर्ण सिद्धपद का जीव को भान न होने से वह तद्सन्मुख दृष्टि नहीं करता अपितु अनादिरूढ़ पर्यायमूढ़तावश परसत्ता में प्रतिबद्ध होकर, शुभाशुभभाव करके चतुर्गति-क्लेश-संतति को प्राप्त होता रहा है। उससे छुटकारा पाने का सटीक उपाय इस ग्रंथ में सुस्पष्ट जताया है। 'सुखी होने के लिए प्रथम शुरुआत कहाँ से व कैसे करें' ऐसी उलझन में फँसे भव्य आत्मार्थियों को यह ग्रंथ दीपस्तम्भवत् प्रखर दिशा-बोध इंगित करता है। साथ-ही आसन्नभव्य आत्मा की मुमुक्षुदशा में किस तरह की योग्यता–पात्रता के बीज बोने में आते हैं कि, जो बाद में अंकुरित, पल्लवित व फलित होते हैं?—इसका चितार इस ग्रंथ की एक और विशेषता है। वैसी योग्यता मुमुक्षुमात्र के लिए आदर्श व अनुकरणीय है।

अप्रतिम यशस्वान् श्री सोगानीजी के आध्यात्मिक गुण-वैभव-स्मरणगान के मंगलमयी जन्मशताब्दी-महोत्सव के ऐतिहासिक प्रसंग पर प्रकाशित इस विशिष्ट संस्करण में, उनके व्यक्तित्व को विशदरूप से जानने की भव्य आत्मार्थियों की स्वाभाविक जिज्ञासा को लक्ष्य में रखकर विभिन्न विषयों–खण्ड़ों का समावेश किया गया है। यथा—

१. प्रथम 'पत्र-खण्ड' पूज्य सोगानीजी के हस्तलिखित पाँच पत्र उनके मूल स्वरूप में, यथाक्रम में प्रकाशित पत्रों के समानांतर दिए गए हैं।

२. कतिपय पत्रों के मार्मिक अंश, सामान्य क्रम में प्रकाशित पत्रों के बाँये पृष्ठ पर छापे गये हैं ताकि वे रसिक जीवों के गहन चिंतन–महिमा में प्रेरक हों।

३. जब सन् १९६७ में इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय समाज में श्री सोगानीजी की कोई ख़ास पहिचान न थी। अतः उनका हार्द, मूल विषय की यथार्थ पकड़ व द्रव्य-दृष्टि की तीक्ष्णता आदि के समर्थन में पूज्य गुरुदेवश्री के 'परमात्मप्रकाश' की गाथा ४३, ६५ व ६८ के प्रवचनों का द्वितीय खण्ड के रूप में समावेश किया गया था ताकि व्यर्थ व निराधार शंकाओं के लिए अवकाश न रहे। सुयोग से प्रथम संस्करण के प्रकाशन पश्चात् गुरुदेवश्री ने चंद माह तक उसके गम्भीर चिंतन–घोलन के बाद पूज्य सोगानीजी को असाधारण योग्यतावान् व प्रबल पुरुषार्थी के रूप में आँका तथा प्रवचन-सभा में उनकी महिमा व्यक्त करने लगे। वे अपने प्रवचनों में द्रव्य-दृष्टि, अकर्तृत्व व पर्याय की स्वतंत्रता आदि आध्यात्मिक विषयों का विवेचन करते हुए विभोर होते तो जब-तब श्री सोगानीजी की तद्विषयक आशय की अनूठी व हृदयस्पर्शी परिणति व अभिव्यक्ति का महिमापूर्वक उल्लेख करते थे। मुमुक्षुजीवों के लिए फिर अंशमात्र भी अन्यथा विचारने का अवकाश क्यों हो?

ऐसे भी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रताप से १९६७ से २०११ यानी ४४ वर्षों के दौरान 'दृष्टि' का विषय इतना विशदरूप से प्रतिपादित व चर्चित हो गया है कि, मुमुक्षु समाज को पूज्य सोगानीजी के हार्द, उपलब्धि व व्यक्तित्व को अहोभावपूर्वक सहज स्वीकार करने के लिए अन्य (आगम) आधार की आवश्यकता नहीं रही।

अतः पूर्व आवृत्तियों के द्वितीय खण्ड के स्थान पर पूज्य गुरुदेवश्री के पूज्य सोगानीजी के प्रति व्यक्त कतिपय उद्‌गारों का अनुवादित संकलन एक नये खण्ड के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है पाठकों को यह परिवर्तित योजना न्यायसंगत लगेगी।

४. तृतीय खण्ड के रूप में पूर्व प्रकाशित चर्चा-विभाग में कोष्टक में दिए गए स्पष्टीकरणों को भी अधिकांश स्थानों पर संक्षिप्त किए हैं अथवा तो हटा दिए हैं ताकि जिज्ञासु आत्मार्थियों का मौलिक चिंतन स्वतः विकसित हो।

५. इस नवीन संस्करण की तैयारी के दौरान-ही एक स्वर्गीय मुमुक्षु की हस्तलिखित नोटबुक अनायास-ही दृष्टिगत हुई, इसमें उन्होंने पूज्य सोगानीजी के साथ हुई प्रत्यक्ष चर्चा को लिख रखा था, जिसे हमारे अनुरोध पर उनके मुम्बई स्थित परिवार के एक सदस्य ने उक्त नोटबुक की एक प्रतिलिपि हमें प्रदान की, जिसमें से कतिपय अप्रकाशित तत्त्वचर्चाओं व अभिव्यक्तियों का इस नवीनतम संस्करण में क्रमांक ६४६ से ७०५ के रूप में साभार समावेश किया है।

६. पण्डितप्रवर श्री अभयकुमारजी शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, देवलाली ने पूज्य सोगानीजी के जीवन एवम् अंतर्‌परिणति विषयक अति भाववाही–हृदयस्पर्शी भक्ति-गीत की रचना की है, जिसका समावेश भी इस अद्यतन संस्करण में किया है। आशा है यह भी पाठकों को मनभावन लगेगा और उनके अध्यात्म-रस की वृद्धि में निमित्त होगा।

७. इस संस्करण को प्रसंग की महत्ता के कारण यथासम्भव नए परिवेश में आकर्षित सज्जा सहित प्रकाशित करने का प्रयास किया है। आशा है पाठकों को यह नया रूप पसंद आएगा।

इस ग्रंथ में श्री सोगानीजी ने सम्यग्दर्शन के विषयभूत ध्रुव, अभेद, एकरूप, शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ, अपरिणामी, त्रिकाली शुद्धात्मा के लिए

मैं / मुझे / अपन / मेरेमें / मुझमें / इधर / यहाँ / इसमें /इस ओर / वस्तु / द्रव्य वग़ैरह शब्द प्रयोग किए हैं; अतः जहाँ जो योग्य है वहाँ विवक्षित यथोचित भाव ग्रहण करने योग्य है।

जिन महापुरुष की भवांतकारी सटीक देशना के निमित्त से पूज्य सोगानीजी का भवांत हुआ है ऐसे निष्कारण परमोपकारी श्रीगुरु कहानजीस्वामी के प्रति उनके उपकृत हृदय में से स्फुरित सहज भावोद्गार मननीय हैं :

"हे गुरुदेव! आपकी वाणी का स्पर्श होते-ही मानो विश्व की उत्तमोत्तम वस्तु की प्राप्ति हो गई। क्या मैं मुक्त होनेवाला हूँ! अरे! शास्त्रों में जिस मुक्ति की इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्र ने इतना सरल कर दिया!!"

इसी तथ्य को पूज्य सोगानीजी के स्वसंवेदनमय निर्मल व तीक्ष्ण भावश्रुतज्ञान से सहज सम्पुष्टि हुई और उन्होंने कहा :

"यह (भव) तो मुसाफ़िरी है। अब तो आख़िरी मुसाफ़िरी है।"

अहो! त्रिकाल जयवंत रहें ऐसे महान् पुरुष।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि, पूज्य सोगानीजी के स्वर्गस्थ पश्चात् जब कोलकाता से उनकी धर्मपत्नी अनोपकुँवर, अनंत उपकारी श्री गुरुदेव के दर्शनार्थ सोनगढ़ आई तब यहाँ उन्हें विधि की किसी धन्य पल में उनकी पूर्व परिचित मुमुक्षु बहिन सुश्री गुलाबबेन ने कहा कि, पूज्य सोगानीजी की अमूल्य धरोहररूप उनके तात्त्विक पत्रों व चर्चाओं का प्रकाशन उस आत्मा के प्रति सच्ची व चिर स्मरणाँजलि एवम् उनके जीवनशिल्पी व जीवनधन श्रीगुरु के प्रति अनुपम भक्ति है। इस अनूठी प्रेरणा से प्रेरित होकर उन्होंने तत्काल इस तथ्य को अति प्रमोद से मान्य किया। मगर इसके लिए पूज्य गुरुदेवश्री की पूर्व स्वीकृति अनिवार्य समझी गई और

अपेक्षित स्वीकृति हेतु जब आपश्री के समक्ष विनम्र निवेदन किया गया तब धर्मवत्सल, महामना ने तद्विषयक स्वीकृति देते हुए इसका कार्यभार माननीय श्री लालचंदभाई मोदी, राजकोट को सौंपने का निर्देश भी किया। तद्अनुसार यह अद्वितीय कार्य उनके सुपुर्द किया गया। तत्पश्चात् उन्होंने कार्य की गुरुता को लक्ष्य में रखकर माननीय श्री शशीकांतभाई शेठ, भावनगर को अपना सहयोगी बनाया। इन दोनों विद्वानों को पूज्य सोगानीजी का प्रत्यक्ष परिचय भी था। इन दोनों ने अकथ परिश्रम से आद्योपांत इस महत् कार्य को सफल निष्पादन किया। फलस्वरूप यह 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' नामक ग्रंथ मुमुक्षुसमाज को उपलब्ध हुआ एवम् जिनागम में इसका समावेश हुआ। अतएव हम इन दोनों महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

यहाँ हम, इस अभिनव संस्करण के प्रकाशन में जिन साधर्मी आत्मार्थियों ने अति तत्परता से अपना हार्दिक सहयोग प्रदान किया है उन सभी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हैं।

साथ-ही हम पाठकों से विनम्र अनुरोध करते हैं कि, आप मात्र अपने आत्मश्रेय के लक्ष्य से इस ग्रंथ के गहन भावों को भलीभाँति आत्मसात करने हेतु इसका गम्भीरतापूर्वक बारम्बार अध्ययन करें।

तीर्थधाम मंगलायतन,
अलीगढ़
दिनांक : २१ अक्तूबर, २०११

—प्रकाशक

संक्षिप्त जीवन-परिचय

परम पुनीत पुण्यभूमि अजमेर में स्वनामधन्य पिताश्री नेमीचंद्रजी सोगानी के घर में यशस्वी पुत्र निहालचंद्रजी सोगानी का जन्म हुआ। कैसा अहोभाग्य है कि, मूल जैन दिगम्बर सम्प्रदाय में जन्म लिया। इस पुण्यात्मा में उदार हृदय एवम् विशाल व्यक्तित्व के साथ निर्भिकता का तो मानो साम्राज्य ही उनके उस व्यक्तित्व में समाया था।

समयानुसार शिक्षा भी प्राप्त की और फिर बुद्धिवंत तो अल्पशिक्षा से भी पूर्ण लाभ प्राप्त कर लेते हैं। २२ वर्ष की अवस्था में आपने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया।

यद्यपि बड़ा कुटुम्ब था, भौतिक सुखों की कमी न थी। पर पुण्यात्मा व्यक्ति को ये सांसारिक सुख नहीं रुचते। अतः मनःस्थल में शांति की प्राप्ति के लिए झंझावात्-सा चलने लगा। जीवन की कठोर वास्तविकता जब शांति के आदर्शों से टकराई, तो अनमेल भावनाओं के कारण मानस में नीरवता–बेचैनी और धुँधलेपने की छाया परिव्याप्त हो गई और इसी बेचैनी ने शांति की प्राप्ति की व्यग्रता को और-भी उग्र कर दिया और धर्म के आश्रय में खींचकर ले गई। निरंतर यही पुकार उठती शांति!!! शांति!!! पर शांति कहाँ? बस! उसी शांति की अथाह में वैभव का यह संसार फीका लगा। मन में भावना उठी 'क्या शांति मिलेगी?' अरे! मिलेगी और अवश्य मिलेगी। पर कब और कैसे? इधर धुन थी शांति की और उधर गृहस्थ होने के कारण संसार में भी योग देना पड़ता था। पर मन उसमें रमता नहीं था, प्रत्येक

सांसारिक कार्य विष-तुल्य लगता था। यहाँ तक कि खाना भी इस अरुचि के साथ खाया जाता कि, क्या खाया है इसका भान नहीं। मन में शांति के लिए चक्र-सा चलता था। किसको पूछे शांति की वह राह? इस संसार में तो—

"यहाँ कौन किसी की सुनते हैं,
सब अपनी-अपनी धुनते हैं।"

३२ साल की आयु में जीवन भार-सा लगने लगा, जीना तक एक बोझ-सा बन गया। अनंत शांति की अनंत ख़ोज के लिए हृदय तड़प-तड़प उठता था। इस आत्मिक शांति की प्राप्ति के लिए कई-कई वर्षों तक किन-किन धर्मों के द्वार नहीं खटखटाए? सभी धर्मों का यथासाध्य तत्त्वावलोकन किया, रामायण और गीता का यथाप्राण अध्ययन किया, हठयोगियों के हठवाद को साधा, स्वाध्याय की, पर नहीं-नहीं वो आत्मिक-शांति नहीं मिली। अनमोल मनुष्य भव का एक अंश तो इस भटकन में ही निकल गया।

जीवन का उद्देश्य तो यही बन गया था कि—

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना,
किंतु पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं है।"

शायद वह राह सम्यक्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की थी, जिसकी सीमा है मोक्ष।

अंततः एक ने कहा कि, अरे! जैनशास्त्रों में ही तो वह शांति है। अतः रात-रात भर जागकर अनेक जैन शास्त्रों का गहन पारायण किया, पूजादि सभी धार्मिक क्रियाएँ की, गृहस्थी से अलग अपना वास किया, अध्ययन-मनन-चिंतन की त्रिवेणी बहाई, पर मस्तिष्क में शांति के लिए धधकती हुई ज्वाला की

भट्ठी नहीं बुझी और नहीं ही बुझी। रात–रात भर इधर से उधर घूमना, अनंत सुख़ की खोज में, सहजानंद की प्राप्ति के लिए। मन कहता था कि 'यदि शांति नहीं मिली, तो मेरे इस नश्वरशरीर का असार संसार से उठ जाना ही श्रेयस्कर होगा।

'जहाँ चाह है, वहाँ राह है,' तो फिर आत्मार्थी ही इससे वँचित क्यों? पुरुषार्थ से जब सभी को इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर अनंत सुख का खोजी आत्मा सुख से आख़िर कितने दिन दूर रहता! धर्मानुरागी भाई को भी एक ऐसे आत्मार्थी सज्जन मिले जिन्होंने परम उपकारी गुरुदेवश्री कहानजी स्वामी के वचनामृत अंकित 'आत्मधर्म' दिया। झनझनाकार स्वरलहरी निकली अरे! मिल गया! जिस सुख की खोज थी, वह मिल गया! 'आत्मधर्म' की सारगर्भित बात, **'षट् आवश्यक क्या एक-ही आवश्यक है'** ने उनके अंतर में चोट लगा दी। बस! तभी 'आत्मधर्म' में अंकित गुरुदेव के चित्र को देखते-ही मन उल्लास से भर गया और इन शब्दों के साथ उस भव्य चित्र को अर्घ्य अर्पण किया :

''उदकचन्दनतन्दुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घ्यकैः,
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाथमहं यजे।''

'चेतन भिन्न जुदी है काया' यह मूल तत्त्व अध्यात्मयोगी गुरुदेव की वाणी से मुखरित, रस से ओतप्रोत 'आत्मधर्म' में मिल गया। अहा! ऐसे सत् महात्मा के दर्शनों के लिए मन तड़पने लगा; परम उपकारी गुरुदेव के दर्शन की लालसा से व्याकुलता दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही गई।

अंततः आराधक अपने आराध्य गुरु की चरण-शरण में ही पहुँचे संवत् २००२ में गुरुचरण-रज मस्तक से लगाने। ऐसे महान् मुक्तिदाता के दर्शन कर हृदय पुलकित हो गया।

पुण्यात्मा को गुरुदेव के इन वचनों से कि **''ज्ञान अने राग जुदा छे''** एकदम शांति मिल गई। गुरुदेव के अमृत वचनों को सुनते-ही लगा कि अरे! जिस मुक्ति की खोज में दर-दर भटका, वह परम उपकारी गुरुदेव के प्रथम प्रवचन में ही इतनी सहज लगी और भाव उठा : **'तो क्या मैं मुक्त होनेवाला हूँ!'**

अहो! गुरुदेव का यह मिलन और सामीप्य उनके लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ और लक्ष्य की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिली!

अहा! कितने मार्मिक व महत्त्वपूर्ण थे वे शब्द **'ज्ञान अने राग जुदा छे'** कि, सांसारिक जाल में भटकते हुए एक प्राणी का तत्क्षण-ही सच्चा पुरुषार्थ जाग उठा। स्वर्णनगरी (सोनगढ़) की समिति के एक कमरे में बैठकर सारी रात अतीन्द्रिय ध्रुव स्वभाव का घोलन किया और उसी रात निर्विकल्प दशा प्राप्त कर ली। उनकी इस निर्विकल्प दशा की अखण्डधारा जीवनपर्यंत निरंतर चलती रही।

पूज्य गुरुदेव की इस स्वर्णनगरी में आकर स्वयम् व कुटुम्बीजन को ऐसे भूल गए जैसे उनसे कभी नाता ही न था—अरे! ज्ञानानंद की मस्ती ने उन्हें मदहोश बना दिया था। निरंतर यही भावना उठती थी कि, हजारों वर्षों तक भी मैं इस मस्ती को पिये जाऊँ तो भी तृप्ति नहीं होगी। यही भाव होते थे मानो :

''हम छोड़ चलें यह लोक तभी, लोकांत विराजें क्षण में जा,
निज लोक हमारा वासा हो, शोकांत बनें फिर हमको क्या।''

अतीन्द्रिय आनंद के भोक्ता श्री सद्गुरुदेव के प्रति उपकार की चर्चा चलते-ही आत्मार्थी गद्गद् हो उठते। मौन हो

जाते। अविरल अश्रुधारा बहने लगती। मन के उद्‌गार आँखों की राह निकलते।

'गुरुदेव के लिए मेरे हृदय में क्या है! मैं वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। इस पामर पर श्रीगुरु की अनंत कृपा हुई है। बस! निरंतर यही भावना है कि, गुरु-चरणों में स्वयम् को सदैव पाऊँ'। संसार से पूर्णरूपेण उदासीनता ने बार–बार गुरु-चरणों में आने की व्यग्रता दिखाई पर लाख चाहने पर भी निरंतर गुरु-चरण-सेवा का योग नहीं मिला।

संसार अरुचिकर था फिर-भी संसार के इस कीचड़ में फँसना पड़ा। इस सांसारिक कीचड़ में अपने जड शरीर का योग देते हुए-भी आत्मा निरंतर अपने घोलन में थी। जब–जब भी बाह्य संसार अपनी ओर बुलाता, गृहस्थी की झंझटें अपनी ओर आकर्षित करती, तो ज्ञानी यही कहते थे : **'अरे! मुझसे कुछ-भी आशा मत रखो, पँगु समझकर दो समय का भोजन शरीर टिकाने के लिए दो।'**

करोड़पतियों की विशाल नगरी कलकत्ता। ६०–७० लाख की आबादी। उसमें भी आत्मार्थी को भान होता था: मानो इस अथाह मनुष्य समुदाय में 'मैं एक अकेला ही सुखी हूँ,' अरे! निश्चित ही सुखी थे। आत्मानंद का रसास्वादन करनेवाला स्वयम् को सुखी ही क्या सर्व सुखी महसूस करता है।

पुण्यात्मा को शरीर तो एक व्यर्थ का बोझा-सा लगता था। काल का मानो सदैव स्वागत था। जिसकी जैसी चाहना (भावना) होती है वैसा-ही योग भी हो जाता है। परम पूज्य पुण्यात्मा का भी ऐसा योग बैठा कि, अकस्मात् हृदयगति ने रुद्ध होकर आत्मार्थी के शरीर के इस व्यर्थ के बोझ को हटाकर उनके लिए वास्तविक वनवास का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

७ जून, १९६४ का वह हृदयग्राही दिवस भुलाया नहीं जा सकता। जब देवात्मा के हृदय में दर्द उठा। सारे दिन का उपवास। निरंतर श्रीमद् राजचंद्र की पुस्तक का अध्ययन। आत्मघोलन व शांत मुद्रा। संध्या को इस वेदना का कुछ अधिक भान हुआ। फिर-भी स्नान किया। मानो संसार से प्रस्थान करने के लिए जड शरीर की शुद्धि की। वातावरण में भी एक अजीब-सी उमस, घुटन व उदासी भरी हुई थी। ऐसा लगता था जैसे किसी अव्यक्त वेदना के गहरे सागर में डूबते–उतरते रहे हों।

गृहस्थी के सारे विकल्प-जाल से मुक्त–एकांत में अपने जड शरीर का बोझा हटा दिया। उनके जड शरीर को सम्पूर्ण आदरभाव से चंदन तथा कर्पूर की चिता पर सुलाया गया।

इस आकस्मिक स्वर्गवास का समाचार जब महाराजश्री ने सुना तब वैराग्यपूर्वक सहज उद्‌गार प्रकट किए : ''अरे, आत्मार्थी ने मनुष्य-जीवन सफल कर लिया है। स्वर्ग में गए हैं और निकट भवि हैं।''

अंततः उनकी आत्मा की शांति की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रार्थना करते हुए यही भावना है कि, हम सब भी सहजानंद के उस अलौकिक आनंद की, अनंत सुख की, अमाप्य शांति की प्राप्ति कर मनुष्य-जीवन सफल करें।

—कुमुद सोगानी

पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी का

व्यक्तित्व एवम् कृतित्व

राजस्थान की पुनीत–पुण्य वसुंधरा अनेक धर्मात्माओं की जन्म–कर्मभूमि है। यहाँ का ऐतिहासिक नगर अजमेर अपनी प्राकृतिक छटा के साथ–साथ विविध कला–संस्कृतियों के केन्द्र के रूप में सुप्रसिद्ध है। यहाँ प्राचीन काल से ही मूल दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी भी प्रचुर संख्या में निवास करते रहे हैं। यहाँ उन लोगों ने अपनी धर्माराधना के निमित्त अपने आराध्य देवों के कई गगनचुम्बी शिखरबद्ध जिनमंदिरों के निर्माण कराए हैं, जो वस्तुशिल्प व कलात्मक सौंदर्य की दृष्टि से भारत विख्यात हैं। हमारे प्रस्तुत चरितनायक, निकट मोक्षगामी धर्मात्मा श्री निहालचंद्रजी सोगानी (जिनके लिए इस आलेख में 'श्री सोगानीजी' शब्द प्रयुक्त किया है) की भी यही जन्मभूमि है।

यद्यपि सोगानी-परिवार की अनेक पीढ़ियों की जन्मभूमि अजमेर ही रही है तथापि यह कहना कठिन है कि अतीत में उनके पूर्वज कब और कहाँ से आकर यहाँ बसे।

श्री सोगानीजी के पिता श्री नेमिचंद्रजी धर्मनिष्ठ, सरलमना व संतोषी वृत्ति के व्यक्ति थे। उनके अन्य तीन सहोदर थे। उन्होंने आजीविका के साधन हेतु गोटाकिनारी का हस्त-शिल्प अपनाया। परिवार मध्यम वित्तीय स्थितिवाला था। श्री नेमिचंद्रजी की प्रथम पत्नी श्रीमती सूरजबाई का बाल्यावस्था में ही निधन हो

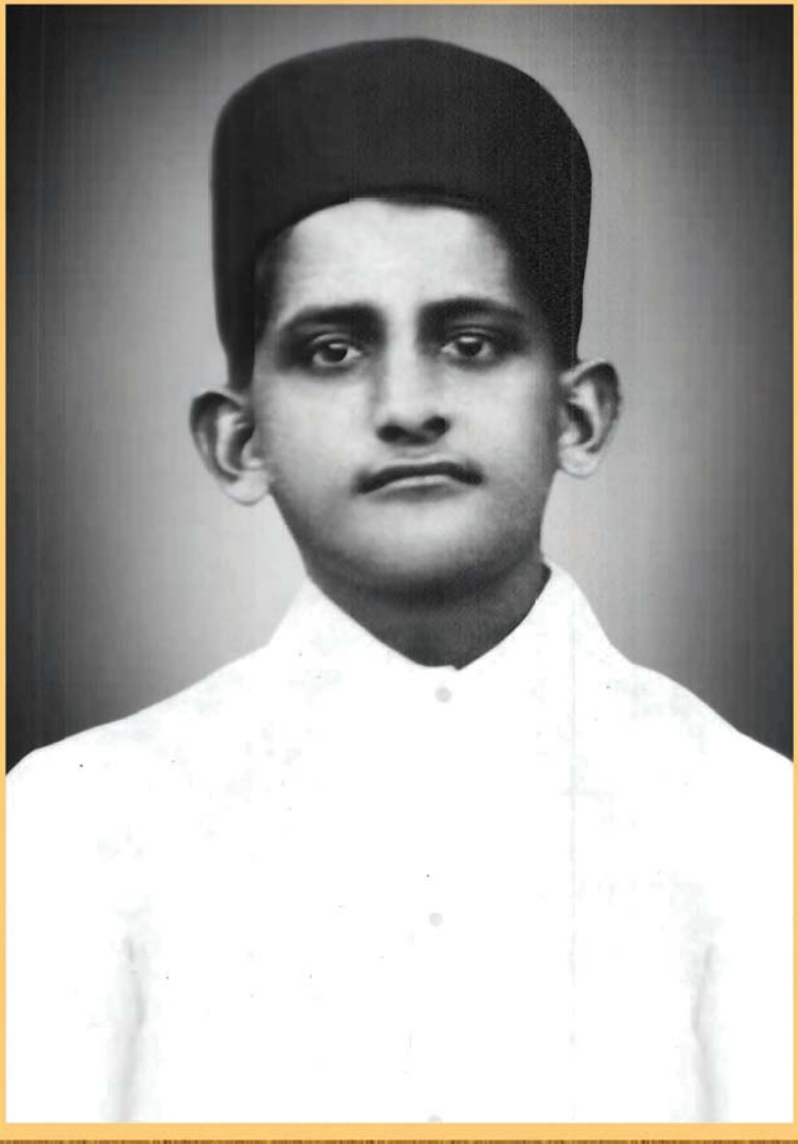

अरे भाई! तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेश में चैतन्यमूर्ति हो, उसी में बैठे रहो न! उठकर कहाँ जाते हो?

जाने से उनका दूसरा विवाह गगराना ग्राम के कासलीवाल परिवार की कन्या किशनीबाई के साथ किया गया। उसने चार पुत्र व एक पुत्री को जन्म दिया। जिनमें श्री निहालचंद्रजी दूसरे नम्बर के पुत्र थे।

✿ श्री सोगानीजी की जीवनयात्रा :

सन् १९१२ में, वैशाख सुद-११, विक्रम संवत् १९६९ के दिन विधि की किसी धन्य पल में बालक निहाल को जन्म देकर उनकी माताश्री की कोख भी निहाल हो गई। बालक का मनोहर रूप व सौम्य निश्चल मुद्रा सभी को सहज-ही मोहित कर डालती। बालक की बाल सुलभ 'चंद्र' कलाएँ व चेष्टाएँ भी सभी का मन लुभाती रहती। भावी महामना के पाद-स्पर्शित रजकण भी गौरवान्वित हो, धन्य हो गए।

श्री सोगानीजी जन्मजात असाधारण प्रतिभा के धनी, विचक्षण व मेघावी रहे; परिणामतः उन्होंने अति अल्प प्रयास से ही यथेष्ट लौकिक शिक्षा प्राप्त कर ली। वे सहज चेतना, जिज्ञासुवृत्ति, निर्भिक, कार्यनिष्ठ व परिश्रमशील होने के साथ-साथ धुन के धनी भी थे। किसी कार्य को प्रारम्भ कर देने के बाद उसे पूरा किए बिना उन्हें चैन कहाँ?

इसी बीच पारिवारिक-दायित्वबोध ने उन्हें परिवार के उपजीवन के निर्वाह हेतु सहयोगी बना दिया, अतः उन्होंने अजमेर में ही एक दुकान पर नौकरी करना स्वीकार कर लिया। उनकी प्रामाणिकता, प्रबंध-पटुता, व्यवहार-कुशलता, कर्तव्य-निष्ठतादि सद्गुणों से प्रभावित होकर दुकान मालिक ने परिस्थितिवश कालान्तर में अपनी दुकान का स्वामित्व ही श्री सोगानीजी को सौंप दिया।

तथापि उनकी बाल्यावस्था में ही विलक्षण प्रकृति थी। कार्यनिष्पन्न होते ही वे गम्भीर हो, एकांत में बैठ किन्हीं विचारों में खो जाया करते थे। उनकी भीतर तक झाँक लेनेवाली तेज आँखें, समाधिस्थ-से रहते अधर-सम्पुट उनकी जिज्ञासावृत्ति को रेखांकित करते रहते। उनकी ऐसी वृत्ति घर के बड़ों को विस्मित करती या सालती थी।

✿ गृहस्थाश्रम :

श्री सोगानीजी का सन् १९३४ में बाईस वर्ष की वय में अजमेर के ही बाकलीवाल परिवार की कन्या अनोपकुँवर के साथ विवाह हुआ। कालक्रम में उनके दाम्पत्यजीवन से पाँच पुत्रों व तीन पुत्रियों ने जन्म लिया। जिनमें से प्रथम पुत्र का ४–५ वर्ष की अल्पायु में तथा दो पुत्रियों का (श्रीमती आशालता व कुसुमलता का उनके विवाहोपरांत) निधन हो गया। वर्तमान में सब से बड़े पुत्र श्री रमेशचंद्र व उनके तीन अनुज क्रमशः श्री नरेशचंद्र, श्री अशोककुमार व श्री अनिलकुमार मौजूद हैं। और वे सभी अपने पूज्य पिताश्री के निर्दिष्ट पथ पर आने का प्रयास कर रहे हैं।

✿ मंथन-काल :

यद्यपि श्री सोगानीजी के लिए बढ़ती हुई गृहस्थी की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति उस दुकान की आमदनी से करना अति कठिन था; तथापि उन्हें तद्विषयक कोई विशेष मानसिक उलझन नहीं रहती थी।

परंतु उनके कोई पूर्व संस्कारवश बाल्यावस्था से ही स्फुरित वैचारिक द्वंद्व अविच्छिन्नधारा से जो प्रवहमान था, वह दिन–दिन वृद्धिगत होता गया। वह उन्हें न तो दुकान पर और

गुरुदेवश्री की सिंहगर्जना ऐसी है कि,
दूसरे को निर्भय बना देती है ।

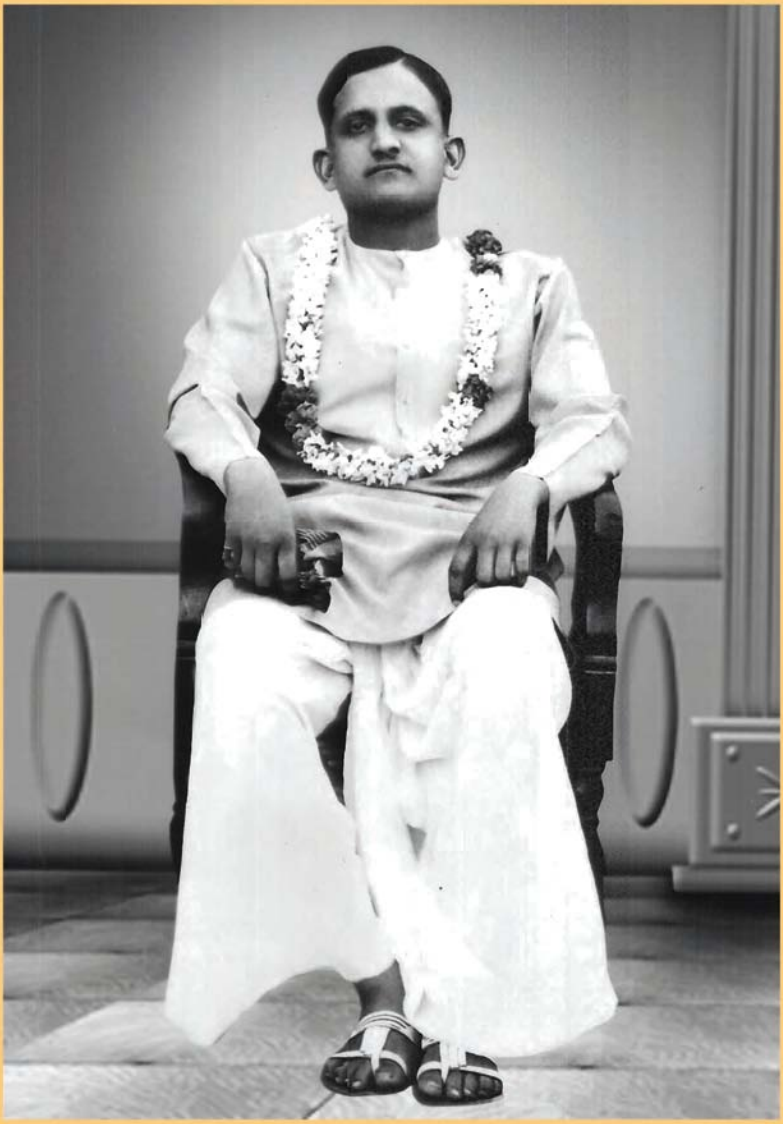

ज्ञान की राग के प्रति पीठ होती है, मुख नहीं होता।
राग को कम करूँ, छोड़ूँ—ऐसा तूफ़ान नहीं होता।

न ही घर पर चैन लेने देता था। जीव–जगत्, जीवन–मृत्यु, सत्यासत्य की जटिल समस्याओं से जूझता हुआ उनका घायल मन बार बार प्रश्नातुर हो उठता। क्या है सत्य? कौन हूँ मैं? कहाँ है अखण्ड शांति? कहाँ है इन ज्वलंत प्रश्नों का समाधान?

इस तरह एक ओर पारिवारिक दायित्व का बढ़ता हुआ दबाव और दूसरी ओर उक्त प्रकार की वैचारिक मनःस्थिति। दोहरी मानसिकता का यह द्वंद्व प्रबल से प्रबलतर होता गया।

नीरव निशीथ के साये में जब निद्रालस संसार स्वप्नों में खोया रहता, वे उन्नीद्र होकर घर की छत पर चक्कर लगाते रहते। धूँधले उदास आकाश में वे किसी प्रकाशमान ध्रुव तारे की ख़ोज करते रहते। मन होता, पाँवों में पंख बाँधकर उड़ता हुआ चला जाऊँ इस घुटन और कुण्ठाओं की सीमा के उस पार, जहाँ अनवरत शांति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित है। अपनी ही सृष्टि के ताने–बाने से गुथे जँजाल से मुक्त होने के लिए उनके प्राण छटपटाते रहते। कोई दूरागत पुकार उनके कानों में गूँजती रहती। अनागत का कोई आमंत्रण उन्हें अपनी ओर खींचता रहता। निरंतर बढ़ती हुई बेचैनी और विह्वलता को देखकर उनकी धर्मपत्नी भी करुणा से विगलित होकर तड़प उठती। परंतु तादृश स्थिति बिना, ऐसी गोपित वेदना का कारण जान पाना सम्भव कहाँ?

भीषण अतृप्ति और प्यास, कभी न भरनेवाला शून्य, कभी न बुझनेवाली आग के घेरे में घिरते चले गए, आत्म-वेदना के निगूढ़ पारावार में वे डूबते गए। उन्हें प्रत्येक सांसारिक कार्य विष-तुल्य लगने लगे।

सत्य से साक्षात्कार की अभीप्सा में श्री सोगानीजी के जीवन का रूपांतर होता रहा । भरे–पूरे संसार में वे एकाकी और एकांतिक होते चले गए । शांति की प्राप्ति के लिए वे अनेक उपक्रम करते रहे । यहाँ तक कि किराये के घर में रहने पर भी छत के ऊपर, उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति तदनुकूल न होनेपर भी, अपने ख़र्च से एक कोठरी भी बना ली; जहाँ उन का एकांतवास हो सका । यही कोठरी उनकी शोध और साधना का केन्द्र बन गई । शरीर से लौकिकधर्म का पालन करते हुए भी उनकी अस्तित्वगत उपस्थिति भावना के रहस्यलोक में रहने लगी ।

✿ सत्पात्रता :

साधु–संतों का समागम, जिनदेव-दर्शन, जैनग्रंथों का आलोड़न करना श्री सोगानीजी की दिनचर्या का अनिवार्य अंग बनता गया । वे जब तब अन्य धर्मग्रंथों का भी तुलनात्मक अध्ययन किया करते थे । उन की स्वाध्यायरुचि इतनी बढ़ चली थी कि, वे दुकान पर भी तनिक-सा अवकाश मिलते ही या ग्राहकों को नौकर के हवाले कर, शास्त्र-स्वाध्याय में खो जाते थे । चिंतन–मनन–मंथन के धुँध भरे गलियारों में भटक–भटक कर वे रोशनी की तलाश करते रहे । अपनी अभीष्ट-सिद्धि हेतु उन्होंने अपने ही हाथों से बड़े जतन से तैयार की हुई सामग्री से, लम्बे समय तक, दत्तचित्त से चार–चार पाँच–पाँच घण्टों खड़े रहकर दैनिक पूजाएँ की, खड्गासन ध्यान-क्रिया का अभ्यास किया, एकांत में हठ योगियों के हठवाद को साधा, यहाँ तक कि एक बार तो गृहस्थ-बंधन से दूर होने के लिए घर छोड़कर डेढ़–दो माह तक शहर की ही धर्मशाला में एक विद्वान् पण्डित को रखकर, रात–रात भर जागकर अनेक जैनग्रंथों का गहन

SOGANI & SONS
STOCKISTS- DAYAL-BAGH FOOT-WEAR
THE AJMER
DAYAL-BAGH STORES. LTD.
AJMER.

पारायण किया; घण्टों ही चिंतन–मनन–ध्यान आदि क्रियाओं में रत रहते, तथापि जिस परम सत्य को पाने के लिए उनका रोम–रोम व्याकुल व बेचैन था, उसका साक्षात्कार उन्हें नहीं हुआ तो नहीं हुआ। अनमोल मनुष्यभव का एक अंश तो इस भटकन में ही निकल गया। आत्म-विरह से उनका आर्त मन बार–बार पुकारता कि यदि सत्य से साक्षात्कार नहीं हुआ तो फिर मेरे इस नश्वर शरीर का इस असार संसार से उठ जाना ही श्रेयस्कर है।

✿ दिशा-बोध :

परंतु 'जहाँ चाह है वहाँ राह है, तो फिर आत्मार्थी ही इस से वँचित क्यों? पुरुषार्थ से जब सभी को इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर 'सत्य ही चाहिए अन्य कुछ नहीं' ऐसे दृढ़ निश्चयी से सत्य आख़िर कितने दिन दूर रहता?? वैसा ज्ञानीधर्मात्माओं ने भी कौल–करार किया है कि : ''चैतन्य को चैतन्य में से परिणमित भावना अर्थात् राग-द्वेष में से नहीं उदित हुई भावना—ऐसी यथार्थ भावना हो, तो वह फलती ही है।''

दैवयोग से जैसे श्री महावीरस्वामी के जीव को उसके सिंह के भव में सत् उद्‌बोधन हेतु दो चारणऋद्धिवंत मुनिराज आकाश से पृथ्वी पर उतरे थे, वैसे-ही सन् १९४६ में किसी महान् मंगल बेला में श्री सोगानीजी को किसी साधर्मी ने सोनगढ़ में बिराजित दिगम्बर जैनधर्म के आध्यात्मिक संत श्री कहानजी स्वामी के प्रवचनों को प्रकाशित करनेवाला मासिक 'आत्मधर्म' पढ़ने के लिए दिया। प्रवचन-प्रसादीस्वरूप सारगर्भित वाक्य 'षट् आवश्यक नहीं, लेकिन एक-ही आवश्यक है' ने उनके अंतर को झकझोर दिया, उन्हें गहरी चोट लगी। इसी वाक्यामृत के भावभासन से मानो अनंत काल से अनंत कर्तृत्व के बोझ तले दबी, छटपटाती

उनकी आत्मा सहज उबर गई और उन्हें आत्मा भारमुक्त-सा हलका भासित होने लगा। अंतर में रोम–रोम झनझना उठा और स्वरलहरी निकली, अरे! मिल गया! जिस सत्य की खोज थी, उसका विधि-प्रकाशक मिल गया। तत्क्षण ही उन्हें पूज्य गुरुदेवश्री और उनके मंगलकारी वचनों के प्रति श्रद्धा व अंतरप्रीति स्फुरित हुई और अहोभाव छलक उठा, मन भक्तिविभोर हो उठा। और उन्होंने 'आत्मधर्म' में अंकित श्रीगुरु के भव्य चित्र को श्रद्धा-सुमन के रूप में निम्न अर्घ्य अर्पित किया :

"उदकचन्दनतन्दुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घ्यकै;
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाथमहंयजे ॥"

अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी से मुखरित रस से ओतप्रोत 'आत्मधर्म का प्रत्येक शब्द ज्ञान का स्फोट, प्रत्येक पृष्ठ सहजाननंद की ओर ले जानेवाला पथ-प्रकाश! जैसे–जैसे वे इसके पृष्ठ पलटते गए उनके वाच्य अवगाहन से, अनादिरूढ़ व सर्व दोषों का जनक मिथ्यात्व और अज्ञान की शक्ति क्षीण होने लगी। ज्ञानग्रंथियाँ यथोचित खुलती गई। आत्मा के अनंत लोक की यात्रा की दिशा उन्हें स्पष्ट होने लगी।

यद्यपि उन के बुद्धिजन्य स्थूल विपर्यास तो निरस्त हो गए, तथापि विकट समस्या खड़ी हुई कि, उस परम सत्य तक पहुँचा कैसे जाए? तदर्थ काफ़ी प्रयास किया, परंतु समस्या का निवारण नहीं हो सका; स्वयम् से कोई समाधान–विधि नहीं सूझ रही थी, तो अब क्या किया जाए?—ऐसी एक नई विचित्र उलझन उत्पन्न हो गई। एकाएक सहज-ही गुरुदेवश्री की छवि का मन में आविर्भाव हुआ और तभी मार्गप्रकाशक के चरण-सान्निध्य और दर्शन हेतु उनका मन तड़प उठा, बस! अब चैन कहाँ? उस

संत की पवित्र चरणरज को अपने मस्तक पर धारण करने की उनकी लालसा प्रतिक्षण तीव्र से तीव्रतर हो चली।

✿ सद्‌गुरु का प्रत्यक्ष योग :

अंततः वह चिरप्रतीक्षित सुमंगल घडी उदित हुई। श्री सोगानीजी सन् १९४६ में प्रथम बार अपने आराध्य श्रीगुरु के पावन चरणों में पूर्णतः नत होने स्वर्णनगरी (सोनगढ़) जा पहुँचे।

श्री सोगानीजी ने अपने आराध्य साक्षात् चैतन्यमूर्ति की पवित्र चरणरज को मस्तक पर चढाने हेतु ज्यों-ही अपना सिर नवाया, तो उन्हें ऐसा महसूस हुआ मानो उनके अनादिरूढ़ मिथ्यात्व की चूलें ढीली होने लगी हैं। और वे अपने श्रीगुरु की दिव्य मुखमुद्रा को भावविभोर होकर, मंत्रमुग्ध-से अपलक निहारते हुए उनकी पारदर्शी चिन्मय मुद्रा का निदिध्यासन करते रहे, तो लगा जैसे श्रीगुरु के तेजस्वी मुखमण्डल की दीप्ति से उनका उदयगत मिथ्यात्व भी वाष्पशील हो चला हो।—ऐसी जात्यंतर स्थिति ने श्री सोगानीजी के अंतर्‌आलोडन की दिशा स्वकेंद्री होने योग्य अंतर अवकाश बना दिया, जिससे उनके ज्ञान ने स्वरूप-निश्चय-योग्य क्षमता ग्रहण की, उघर आत्मरस से ओतप्रोत वक्ता श्रीगुरु की दिव्यवाणी मुखरित हुई और उन्हें प्रत्यक्ष सत्-श्रवण का प्रथम (अपूर्व) योग मिला।

✿ स्वरूप-निश्चय :

जैसे चातक पक्षी स्वाति-बूँद के लिए 'पी कहाँ...पी...कहाँ' की रट लगाए रहता है, वैसे-ही श्री सोगानीजी को चिरकाल से 'सत्य...सत्य' की अंतररटन लगी हुई थी। और जैसे चातक की प्यास केवल स्वाति-बिंदु से ही बुझती है, वैसे-ही उनके अंतर में धधकती सत्य के अभावजन्य अशांति की दाह को श्रीगुरु की

पियुष वाणी की शीतल फुहार से शीतलता सम्भव थी। और जैसे स्वाति-बिंदु सीप के सम्पुट में पहुँचकर मोती बन जाता है, वैसे-ही महान् मंगलमयी क्षण में श्रीगुरु के श्रीमुख से निर्झरित बोधामृत 'ज्ञान अने राग जुदा छे' के भाव को उन्होंने चित्त में अवधारण किया जो अलौकिक चैतन्य चिंतामणि के रूप में प्रकटित हुआ।

यद्यपि श्री सोगानीजी को गुजराती भाषा का ज्ञान नहीं था, फिर-भी उन्हें पूज्य गुरुदेवश्री की गुजराती भाषा से कोई कठिनाई नहीं हुई। और वस्तुस्थिति भी यही है कि, प्रयोगप्रधानी जीव को कोई भाषा बाधक नहीं बनती।

श्री सोगानीजी के लिए तो पूज्य गुरुदेवश्री की धर्मसभा ही मानो प्रयोगशाला में रूपांतरित हो गई। और उन्होंने वहीं अपना प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। तदर्थ उन्होंने 'ज्ञान अने राग जुदा छे' के वाच्य की डोर सँभाली और उसके सहारे वे वाच्य के अंतरतल में उतरे और गहरे उतरते चले गए; उन्होंने वहाँ वर्तते राग तत्त्व का सूक्ष्म परीक्षण किया, तो उन्हें वह विभावांश, मलिन, स्वभाव-विरुद्ध, दुःखरूप और आकुलतामय भाव भासित हुआ। और वहीं साथ वर्तते ज्ञान तत्त्व के अन्वेषण पर उन्हें वह स्वभावांश, स्वच्छ, स्वभावभूत, सुखरूप और निराकुलतामय भासित हुआ—ऐसे उन्होंने उक्त दोनों भावों को यथार्थरूप से पहचाना और वेदन पूर्वक उन दोनों की मूल जाति को समीचीनरूप से सुनिश्चित किया। और फिर वे प्रगट ज्ञानांश में वर्तते नित्य उदित सामान्यज्ञान पर से ज्ञानस्वभाव में सन्निहित अनंत अनंत गुण-समुद्र की ओर बढ़े, तो वहाँ उन्हें आश्चर्यकारी अनंत विभूतियों से विभूषित चैतन्य मणि–रत्नों से छलकते अपने स्वभाव की झलक भासित हुई।—इस भाँति अपने ही ऐसे

सत्यस्वरूप के निश्चय से उन्हें 'सिद्ध स्वभावी, अनंत सुख धारक मैं ही ऐसा महान् पदार्थ !!'—ऐसा भाव भासित हुआ।

✿ अतीन्द्रिय स्वरूप-स्वानुभूति :

श्री सोगानीजी को अपने परमोपकारी सजीवन ज्ञानमूर्ति श्री गुरु की भवांतकारी मंगल प्रवचनप्रसादीरूप देशना से प्रतिभासित निज परम तत्त्व की अनहद आश्चर्यकारी अपूर्व महिमा प्रदीप्त हो उठी। जिससे उन्हें अपने परम चैतन्य तत्त्व का अभूतपूर्व रस व घोलन चालू हो गया। अनादि से सुषुप्त पुरुषार्थ संचेतित हुआ और उनका चैतन्यवीर्य स्फुरित हो उठा। तद्नुसार उनको अपने निर्विकल्प तत्त्व की धुन अति वेगपूर्वक चलती रही। कब दिन ढला, कब निशा ने अपनी काली चादर फैलाई, कुछ भान नहीं रहा; उन्हें सभी उदय-संयोग-प्रसंग विस्मृत हो गए; बस! अनवरत एक-ही धुन चल रही थी।

जब जगत्वासी नीरव निशीथिनी के अंक में समा चुके थे तब वे 'समिति' के एक कमरे के कौने में बैठे अपने उदीप्त हुए चैतन्यरस के प्रवाह में निमग्न थे। उनका स्वरूपोन्मुखी सहज पुरुषार्थ पुरज़ोश से गतिशील था।—ऐसी अपूर्व जात्यंतर अंतर स्थितिवश उनके सभी अंतर्बाह्य प्रतिबंधक कारण भी स्वयमेव अस्त हो गए। तभी तत्क्षण वृद्धिशील पुरुषार्थ-प्रवाह अपूर्व वेग से वर्द्धमान हो अंतर्मुख हो गया और उसी क्षण श्री सोगानीजी की आत्मा ने अपने स्वसंवेदन में रहकर, अपने प्रत्यक्ष परमात्मा का दर्शन किया और उन्हें अपने अतीन्द्रिय स्वरूप की स्वानुभूति हुई। और तत्काल-ही उनके आत्मा के प्रदेश–प्रदेश में अतीन्द्रिय स्वरूपानंद की बाढ़ आ गई। अनादि से अतृप्त परिणति स्वरूपानंदपान से तृप्त–तृप्त हो उठी।

जिनवाणी का निर्मल अमृत-प्रवाह उनकी अनादि कुण्ठा की चट्टान तोड़कर छलछला उठा। विकल्प-समुद्र का गर्जन–तर्जन जैसे अनायास-ही शांत होकर थम गया। वे ऐसी भावसमाधि में स्थिर हुए जहाँ न संकल्प था न विकल्प; न प्रवृत्ति थी न निवृत्ति; न मैं था न तू। रह गया केवल अनहद में शाश्वत शांति का साम्राज्य।

श्रीगुरु-मिलन के प्रथम दिन-ही नीरव नीशा के अपार अंधकार में उदित ज्ञान के प्रकाश में इस अनुपम पुरुषार्थी को यों निर्विकल्प दशा सम्प्राप्त हुई। अपने परमोपकारी श्रीगुरु की निष्कारण कृपा-प्रसादी पाकर श्री सोगानीजी की आत्मा निहाल हो गई।

अपूर्व, अनुपम, अमृत-रस पी लेने से उसकी मस्ती ने उन्हें मदहोश-सा बना दिया। निरंतर यही भावना का संवेग वर्तता कि, मैं भावी सर्व काल पर्यंत इसी ज्ञानानंद की मस्ती में डूबा ही रहूँ और बस! निरंतर आनंदामृत पान करता रहूँ।

जब तक वे सोनगढ़ रहे दिन में पूज्य गुरुदेवश्री की स्वानुभवरसमय पुरुषार्थप्रेरक वाणी का अमृत-बोध लेते और रात्रि में अपने कमरे में बैठ निजात्मरस-पान का उद्यम किया करते। चेतना के ऊर्ध्व शिखरों की ओर उनका आरोहण होता रहता। और सतत स्वरूप-घोलन चलता रहता। वे आत्मा की ही धुन में रमे रहते और निरंतर आध्यात्मिक तंद्रा बनी रहती।

इस तरह एक–एक पल सरकता गया और न जाने कब १०–१२ दिन निकल गए, उन्हें पता ही न था। तत्कालीन राजनीतिक उथल–पुथल-जन्य हिंसात्मक दंगों की भयावह परिस्थितियों में भी वे श्रीगुरु के दर्शनार्थ इतने भावावेग में थे

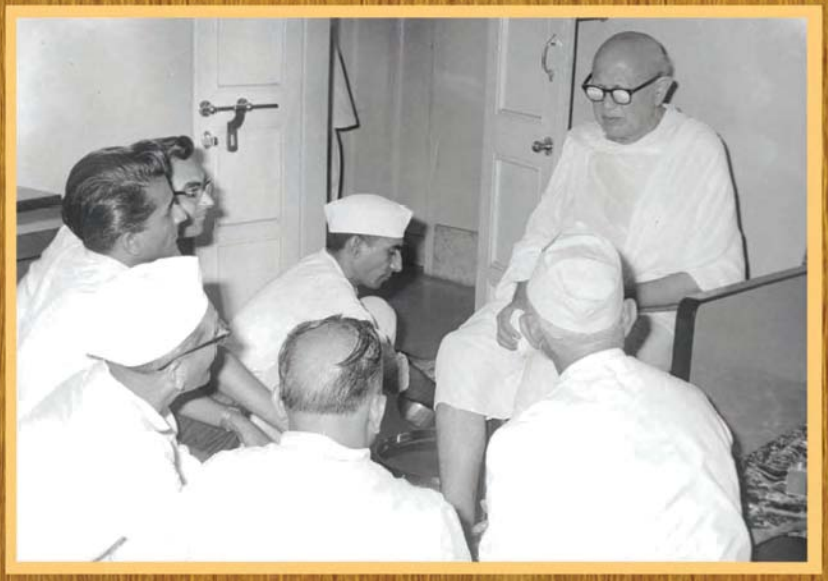

पूज्य गुरुदेवश्री ने वस्तु-स्वभाव कितना स्पष्ट कर दिया है! वह तो पका-पकाया हलवा है! अपन तो सीधा खाते हैं। नहीं तो हमारी तो शास्त्र में से निकालने की इतनी शक्ति नहीं है।

कि उन्होंने परिवारवालों को अपने सोनगढ़ जाने के सम्बंध में सूचना तक नहीं दी थी। घरवाले यही समझते रहे कि, कारोबार के सिलसिले में कहीं गए हैं और दो-चार दिनों में लौट आएँगे। किंतु जब हफ़्ते-दश दिनों तक भी उनका कोई समाचार तक नहीं मिला, तो वे चिंतातुर हो उठे। काफ़ी छानबीन करनेपर जब उनकी सोनगढ़ जाने की प्रबल सम्भावना का आभास मिला तब उनके चिंतातुर परिवार ने एक तार सोनगढ़ भी दिया। उस तार के संदेश ने श्री सोगानीजी की आध्यात्मिक तंद्रा में विक्षेप डाल दिया। और उन्हें मजबूरन् अपने भवमोचक श्रीगुरु के साक्षात् चरणसान्निध्य को छोड़कर अजमेर लौटना पड़ा।

✿ सहज उदासीनता :

श्री सोगानीजी को ज्ञानदशा पूर्व संसारासक्ति नहीं थी। उन्हें सांसारिक प्रसंगों में कहीं कोई रस, रुझान या रुचि नहीं रहती थी। उनके बच्चे किन-किन स्कूलों में व श्रेणियों में पढ़ते हैं? उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा व विकास की क्या व्यवस्था है? घर-गृहस्थी की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति हेतु क्या योजना है?—इत्यादि अनेक प्रश्न व उलझनें जहाँ सामान्य मानव के अंतर्मन को प्रायः व्यथित व कचोटते रहते हैं, वहाँ ऐसे प्रश्नों ने उनकी अंतर्मुख मनोदशा को कभी आंदोलित या विचलित नहीं किया।

सोनगढ़ से लौटने के पश्चात् तो उनके परिणामों में एक विशेष प्रकार की उदासीनता घिरी रहने लगी और निर्लिप्त भाव से परमानंद की ख़ुमारी निरंतर वर्तने लगी। सर्व पूर्व प्रारब्ध उदय-जन्य सांसारिक उपाधियों व झँझटों की ओर अस्थिरतावश जाता उनका उपयोग भी, उन्हें वर्तती सहज स्वरूपपरिणति को

भाररूप प्रतीत होता व उसमें भट्टी में जलने-सी पीड़ा का वेदन होने लगता था। तथापि सर्व उदयगत् विभावों को, निरुपायतावश, अविषम परिणाम से वेदते रहना ही उनकी नियति थी। तत्त्वतः सहजता, सहज समता व सहज उदासीनता सर्व ज्ञानी पुरुषों का सनातन सदाचार होता है।

✿ कलकत्ता-प्रवास :

निवृत्ति लेकर, श्रीगुरु-चरणसान्निध्य में रहकर ऐकांतिक स्वरूप-साधना के प्रति श्री सोगानीजी को असीम आकर्षण व भावना वर्तती थी; फिर-भी उन्हें नियति के पाश में बँधकर, लाचारी से सन् १९५० में अजमेर छोड़ना पड़ा; और अपनी भावना के अत्यंत प्रतिकूल क्षेत्र–असत्संग-प्रसंग के बाहुल्य से घिरे व कोलाहलयुक्त, मायामयी महानगर 'कलकत्ता' में एक प्रसिद्ध कपड़ा मिल की एजेन्सी के कार्यभारवश जाना पड़ा। सन् १९५८ में उनका पूरा परिवार भी कलकत्ता आ बसा। और उक्त वस्त्र-व्यवसाय की प्रवृत्ति में उनका बाह्य शेष जीवन भी कलकत्ता में ही व्यतीत हुआ।

इसी बीच उन्होंने सत्संग की भावना से सन् १९५३ से कलकत्ता स्थित बड़े मंदिरजी में शास्त्र-स्वाध्याय की प्रवृत्ति शुरू की थी। तथा अंतिम वर्ष (सन् १९६४) में भी उन्होंने लगभग ४० दिनों तक सामूहिक शास्त्र-स्वाध्याय किया था।

सन् १९५६ में अपने जीवन-उद्धारक पूज्य गुरुदेवश्री कहानजीस्वामी के तीर्थयात्रा के प्रसंग में कलकत्ता पधारने के पूर्व जब उनके भव्य स्वागतार्थ कलकत्ता में मुमुक्षुमण्डल की स्थापना हुई, तो उसके प्रथम अध्यक्ष के रूप में श्री सोगानजी को मनोनीत किया गया था।

✿ अंतर वैराग्य :

जब श्री सोगानीजी शुरुआत में कलकत्ता आए तब इस भागदौड़ व दावँ–पेचवाली नगरी की ६०–७० लाख की आबादी में उनके पास न रहने की लिए स्थायी जगह थी और न खाने–पीने आदि की कोई समुचित व्यवस्था; फिर-भी, ऐसी प्रतिकूलता में भी उन्हें भान होता कि, मानो इस अथाह मानव-समुदाय में 'मैं एक अकेला ही सुखी हूँ;' अरे! निश्चित् ही वे सुखी थे। आत्मानंद का रसास्वाद करनेवाला स्वयम् को सुखी ही क्या, सर्व सुखी महसूस करता है।

उन्हें संसार अरुचिकर था, फिर-भी इस संसार के कीचड़ में उन्हें फँसना पड़ा। पूर्व निबंधित प्रारब्धवश आ पडे इस सांसारिक कीचड़ में अपने जड शरीर का योग देते हुए भी उनकी आत्मा निरंतर अपने घोलन में रहती। जब–जब भी उदयगत बाह्य संसार उन्हें अपनी ओर खींचता, गृहस्थी के जँजाल अपनी ओर आकर्षित करते, तो वे यही कहते थे : 'अरे मुझ से कुछ आशा मत रखो, पँगु समझकर दो समय का भोजन शरीर टिकाने के लिए दो।'

श्री सोगानीजी की बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता व नीति-सम्पन्नता के कारण उनके पास जब–तब नये व्यवसाय के अनेक प्रस्ताव आते थे परंतु उपाधि को सीमित रखने की भावनावश वे ऐसे प्रस्तावों को टाल दिया करते थे; यद्यपि उन्हें परिवार की आवश्यकताओं के बढ़ते बोझ का ख़याल था।

यद्यपि पूर्व अज्ञानदशा में निबंधित कर्मों के कारण उनका सांसारिक-प्रवृत्तियों से बाह्य सम्बंध तो नहीं टूट सका, बलवान् उपाधियोग अंत तक बना रहा, वे सर्व उपाधियों के बीच निर्लिप्त

रहते हुए भी प्रवृत्ति का भार ढोते रहे; तथापि उनकी आत्म-समाधिधारा जीवनपर्यंत अबाधित वर्तती रही। ज्ञानधारा व कर्मधारा निरंतर प्रवहमान रही। सहज पुरुषार्थ वर्द्धमान होता रहा। जीवनपर्यंत सहज उदासीनता व अंतर वैराग्य उनके परिणामों में उग्रता से वर्तता रहा। एक ओर उनकी प्रवर्तती उग्र अध्यात्मदशा व दूसरी ओर प्रबल उपाधियोग का परिचय उन्हीं के पत्रों से मिलता है। ज्ञानी की ऐसी चित्र-विचित्र व अटपटी दशाओं के अनेक पहलुओं को प्रदर्शित करते श्री सोगानीजी के पत्रों के कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं :

* "मैं त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ व प्रतिक्षण ज्ञानरूप परिणमन मेरा सहज स्वभाव है; जडआश्रित परिणाम जड के हैं—पूज्य गुरुदेवश्री के इस सिद्धांत की घूँटी ने क्षणिक परिणाम की ओर के वलण के रस को फीका कर दिया है व सहज स्व के सिवाय कोई कार्य में रस नहीं आता है।" (—पत्रांक : १)

* "यहाँ संग असत्संग का है, उदय नीरस है। वहाँ (-सोनगढ़) का योग निकट भविष्य में होने के आसार दिखाई नहीं देते, अतः अत्यंत उदासीनता है व व्यवहार में तो बेभान-सी दशा हो जाया करती है।" (—पत्रांक : ७)

* "स्वसंग, गुरुसंग व मुमुक्षुसंग के अलावा दूसरे संग को नहीं इच्छते हुए भी, अरे प्रारब्ध! विष-तुल्य संग में रहना पड़ रहा है, खेद है।" (—पत्रांक : ९)

* "मोक्षमार्गी को कुटुम्बीजनों मध्ये सुख मिलता होवे, यह कल्पना ही ग़लत है।

'कुछ करे नहीं, तो गमे नहीं' ऐसी आदत हो गई है। लेकिन 'कुछ करे, तो गमे नहीं' ऐसा होना चाहिए।

"जाल-सौ जग-विलास, भाल-सौ भुवनवास,
काल-सौ कुटुम्ब काज, लोक-लाज लार-सी ॥"

(—श्री बनारसीदासजी)

उसे तो निरंतर आत्मरमणता चाहिए। अरे जिसे धार्मिक जनों के संग भी नहीं रुचते, उसे कुटुम्ब-संग तो रुच ही कैसे सकता है?" (—पत्रांक : १७)

* "व्यवहार से व ख़ास तौर से अशुभ-योग से पूर्ण निवृत्ति चाहते हुए भी, गृहस्थ आदि व्यावसायिक जँजालों का ऐसा उदय है कि, मन नहीं लगे वहाँ लगाना पड़ रहा है, बोलना नहीं चाहते उनसे बोलना पड़ता है, ऐसी योग्यता है।"

(—पत्रांक : २६)

✿ सत्संग-भावना :

श्री सोगानीजी को अपने श्रीगुरु के चरणों में निवास की भावना का प्रबल आवेग रह-रह कर उद्वेलित करता रहता था; तथापि पूर्व प्रारब्धयोग के बिना उन्हें सांसारिक जँजालों से विमुक्त हो सकने का योग नहीं बनता था। यद्यपि वे सर्व प्रथम सोनगढ़ आए थे तब-ही उनकी तीव्र भावना थी कि 'कोई मकान का प्रबंध कर निरंतर गुरुदेव के चरणों में लाभ उठाऊँ' (देखें : पत्रांक - १९)। परंतु वैसा योग तो नहीं बन पाया; बल्कि कभी-कभी तो लम्बे अंतराल के पश्चात् ही श्रीगुरु के दर्शनों का योग बनता था।

श्री सोगानीजी सर्व प्रथम सन् १९४६ में सोनगढ़ पधारे थे; तत्पश्चात् उनका सोनगढ़ आने का योग क्रमशः सन् १९४८, १९५३, १९५९, १९६०, १९६१, १९६२, १९६३ में ही बन पाया था और वह भी मात्र थोड़े-थोड़े दिनों के लिए ही। अभिवांछित

योग न मिलने के प्रति उन्हें निरंतर खेद वर्तता रहा। उन्हें अपने श्रीगुरु के चरण-सान्निध्य में न रह पाने की कितनी वेदना सालती थी, जिसकी झलक उनके पत्रों में मिलती है। उदाहरणार्थ :

* "पूज्य गुरुदेव की स्मृति इस समय भी आ रही है व आँखों में गर्म आँसू आ रहे हैं कि, उनके संग रहना नहीं हो रहा है।" (—पत्रांक : ४)

* "यहाँ तो पुण्य-योग ही ऐसा नहीं है कि, वहाँ का लाभ शीघ्र–शीघ्र मिला करे। निवृत्ति के लिए जितना अधिक छटपटाता हूँ उतना-ही इससे दूर-सा रहता हूँ, ऐसा योग अबके हो रहा है। कई बार तो फूट–फूट कर रोना-सा आ जाता है। शायद ही कोई दिवस ऐसा निकलता है कि, बारम्बार वहाँ का स्मरण नहीं आता होवे।" (—पत्रांक : ८)

* "अरे विकल्प! यदि तुझे तेरी आयु प्रिय है, तो अन्य सब को गौण कर व गुरुदेव के संग में ले चल, वरना उनका दिया हुआ वीतरागी अस्त्र शीघ्र ही तेरा अंत कर डालेगा।" (—पत्रांक : ९)

* "रह–रह कर विकल्प होता रहता है कि, कम से कम एक–दो वर्ष निरंतर अलौकिक सत्पुरुष के सहवास में रहना होवे, परंतु प्रारब्ध अभी ऐसा नहीं दिखाता है।" (—पत्रांक : १४)

* "पुण्य-योग नहीं है, वहाँ का संयोग नहीं है, अरुचिकर वातावरण का योग है। महान् अफ़सोस है।" (—पत्रांक : १५)

* "हे प्रभो! शीघ्र इधर से निवृत्ति होकर गुरु-चरणों में रहना होवे, जिन्होंने अखण्ड गुरुवास में चरना सिखाया है, यह ही विनती।" (—पत्रांक : २७)

✿ निवृत्ति-भावना :

वस्तुतः निवृत्ति की तीव्र अभिलाषा सर्व ज्ञानीपुरुषों को निरंतर वर्तती ही है। श्री सोगानीजी भी निवृत्ति के लिए सतत छटपटाते रहे, निवृत्ति के लिए योजना घड़ते परंतु वैसे पुण्य-योग के अभाव में वे फलित न हो पाती; तथापि निवृत्ति की भावना कितनी बलवती थी और उसकी वार्ता भी उन्हें कितनी रुचिकर थी, उसका परिचय निम्न उद्धरण से स्पष्ट मिलता है :

✻ "आपने लिखा था कि : "अब निवृत्ति काल पका", यह पढ़कर बिजली के वेग की तरह आनंद की लहर आई थी; कारण पूर्वे निवृत्ति ही विकल्परूप से निश्चये भजी थी, ऐसा पूरा प्रतीति में आता है।" (—पत्रांक : २९)

✿ एकांत प्रियता :

श्री सोगानीजी को एकांतवास अति रुचिकर था। वे जहाँ तक सम्भव होता वहाँ तक किन्हीं से मिलना–जुलना व परिचय में आना पसंद नहीं करते थे। वे जहाँ हो वहाँ एकांत खोजते रहते। प्रायः उन्हें अपने कमरे में बंद रहना ही अभीष्ट था। भीड़ व कोलाहलभरे वातावरण में उनका दम घुटने-सा लगता था।

उनके परिवार के कलकत्ता आ जाने के पहले जब भी ३–४ दिनों की छुट्टियों में बाज़ार आदि बंद रहने की वजह से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं समझते, तो वे भोजनालय से भोजन की थाली अपने कमरे में ही मँगा लेते और एक बार में जो भी खाना थाली में आता, उसे ही खा कर, थाली कमरे के दरवाजे के बाहर सरका देते। यों ऐसे प्रसंगों पर वे अपने निवासस्थान से तीन–तीन चार–चार दिनों तक बाहर ही नहीं निकलते।

वे लम्बी अवधि तक कलकत्ता रहे फिर-भी ख़ास परिचित

मार्गों के अलावा दूसरे मार्गों से अपरिचित ही रहे।

जब सन् १९५३ के श्री बाहुबली-महामस्तकाभिषेक समारोह के समय एकांतवास की यह समस्या जटिल थी, तो वे देर रात गए अकेले ही पहाड़ के ऊपर चढ़ जाते और वहीं पूरी रात अपने स्वरूप के ध्यान–घोलन में गुज़ार देते, तथा फिर प्रातः ही पहाड़ से उतरकर कमरे पर आते।

एकांतवास के प्रति रुझान के परिणामस्वरूप बाह्य जगत् उनके लिए अपनी उपस्थिति खोता जाता था।

तत्त्वचर्चा के दौरान एक बार उन्होंने बतलाया कि "मुझे तो एकांत के लिए समय नहीं मिले, तो चैन ही नहीं पड़ता।" ....'आख़िर तो एकांत (अकेला) ही सदा रहना है। तो शुरू से ही एकांत का अभ्यास दो–चार–पाँच घण्टा चाहिए।'

✿ श्री सोगानीजी की दृष्टि में सांसारिक-प्रसंग :

समस्त लोकसमुदाय विवाह जैसे प्रसंग को मांगलिक, शुभ व आनंद–उमंग का महत्त्वपूर्ण अवसर मानता है। परंतु श्री सोगानीजी ने एक अंतरंग साधर्मी को अपने पुत्र के विवाह का निमंत्रणपत्र भेजा अवश्य, पर साथ में जो विचार उन्होंने लिखे उससे उनकी सांसारिक-प्रसंगों की तुच्छता और सत् प्रति की अनन्य महिमा ही उजागर होती है। तदर्थ पत्रांक : २७ का निम्न उद्धृत अंश द्रष्टव्य है :

* "बड़े पुत्र की शादी ता. १६-४-१९६२ की है; पुण्यवानों को शुभप्रसंग का योग है, उन्हें अशुभप्रसंग पर बुलवाना ठीक नहीं है; फिर-भी लौकिकव्यवहारवश दो पत्रिकाएँ भिजवाई है।"

✿ निर्मानता :

सर्व लौकिकजनों को जहाँ हो वहाँ घर, परिवार, समाज में सर्वत्र अपने प्रभुत्व–मान–सन्मान–स्थान प्राप्ति की अंतरंग अभिलाषा निरंतर वर्तती है। वहीं सच्चे आत्मार्थी की ऐसे सभी प्रसंगों से दूर रहने की सहज वृत्ति रहती है। यदि उसकी विशेष योग्यता हो, तो भी वह उसे गोपित रखना चाहता है। अपनी प्रसिद्धि का अभिप्राय उसे नहीं रहता। श्री सोगानीजी की आत्मदशा अद्भुतरूप से वर्तती थी परंतु वे उसे प्रसिद्ध नहीं करना चाहते थे। फिर-भी उनसे एक अंतरंग साधर्मी ने दूसरे ढंग से अनुरोध किया कि : पूज्य गुरुदेवश्री के निमित्त से आप को तत्त्वबोध हुआ है, इस बात को जानकर उन्हें सहज प्रसन्नता होगी, अतः आप की ज्ञानदशा के बारे में गुरुदेवश्री को बतलाने का विकल्प है। तब उन्होंने कहा : "कोई जाने न जाने, इसमें आत्मा को कोई फ़ायदा नहीं है। अनंत सिद्ध हो गए हैं, (लेकिन) आजकल कोई उनके नाम तक भी नहीं जानता है! असंख्य सम्यग्दृष्टि (तिर्यंच) ढ़ाई द्वीप के बाहर मौजूद हैं, उन्हें कौन जानता है?" उनका यह प्रत्युत्तर उनके वर्तते निम्न अभिप्राय के अनुरूप ही था। यथा :

"फूल बाग़ में हो या जंगल में, उसको सूँघो या न सूँघो, उसकी क़ीमत तो स्वयम् से है; कोई सूँघे, तो उसकी क़ीमत बढ़ नहीं जाती अथवा नहीं सूँघे, तो वह कुम्हला नहीं जाता। इसी तरह से कोई अपने को जाने या न जाने उससे अपना मूल्य थोडा ही है? अपना मूल्य तो अपने से ही है। कोई मान–सन्मान देवे, न देवे—सब धूल ही धूल है, उसमें कुछ नहीं है।"

✿ निस्पृहता :

श्री सोगानीजी जिस कपड़ा मिल की एजेन्सी का व्यवसाय करते थे उस मिल के मालिक को एक बार जब उनके धर्म-प्रेम व योग्यता का पता चला, तो उन्होंने कौतूहलवश उनको घर आकर धर्म समझाने को कहा। परंतु उन्होंने उनमें वास्तविक धर्म-जिज्ञासा का अभाव तथा कौतूहलता देखकर, समयाभाव के बहाने उनके उक्त प्रस्ताव को टाल दिया। श्री सोगानीजी के मन में तो (बाद में उन्हीं के बतलाए अनुसार) यों विचार आया कि : यह तो सांसारिक आवश्यकता पूर्ति हेतु उनके पास आने की विवशता है; अन्यथा ऐसे कार्यों के लिए आत्मार्थी के पास समय ही कहाँ? जहाँ ऐसी परिस्थिति में सामान्य लौकिक जन जिनसे अपने अर्थ-प्रयोजन की सिद्धि की अपेक्षा रहती है वे उनके अनुरूप वर्तन करते हैं; वहीं श्री सोगानीजी का उक्त प्रकार का वर्तन उनकी निस्पृहवृत्ति को उजागर करता है।

✿ तत्त्व-प्रेम :

तत्त्व-प्रेमी जिज्ञासुओं के प्रति श्री सोगानीजी इतने करुणावंत थे कि, व्यावसायिक व निजी प्रवृत्तियों के बीच भी समय, स्थान आदि सब बातों को गौण कर उनकी जिज्ञासाओं का समाधान कर दिया करते थे। कई बार तो वे सड़क के किनारे खड़े–खड़े ही काफ़ी देर तक धर्म-चर्चा करते रहते थे।

उनका एक मुमुक्षु से व्यावसायिक सम्बंध भी था, उससे व्यापारिक कार्य यथाशीघ्र निपटा कर वे धर्म-चर्चा में लग जाते थे।

वे आख़िर के वर्षों में धार्मिक प्रसंगों के अवसर पर मुमुक्षुओं द्वारा घिरे रहने लगे, परंतु समय मिलते ही अकुलाए बिना उनके प्रश्नों के उत्तर दिया करते थे।

मेरु में तो परमाणु आते-जाते हैं; लेकिन मेरे में तो कुछ-भी आता-जाता नहीं—ऐसा मैं अडिग हूँ।

रुचिवंत अंतरंग परिचयवाले साधर्मियों के साथ तो उन्हें देर रात तक धर्म-चर्चा में व्यस्त देखा जाता था।

व्यवसायिक काम से थक कर लौटने पर भी यदि कोई मुमुक्षु तत्त्व-जिज्ञासा लिए घर पहुँच जाता, तो वे तत्काल उसकी उलझन दूर कर देते थे।

✿ निश्चय-व्यवहारसंधियुक्त जीवन :

सर्व ज्ञानीधर्मात्माओं की साधकपरिणति में निश्चय-व्यवहार का अद्भुत सामंजस्य वर्तता है। तत्त्वतः साधकदशा का ऐसा ही यथार्थ स्वरूप होता है। निश्चय-व्यवहाररूप प्रवर्तती धर्मदशा के संतुलन व सुसंगत संधि के आधार से ही धर्मात्मा की दशा का प्रमाणीकरण होता है। श्री सोगानीजी की इन दोनों दशाओं के बीच वर्तते सम्यक् संतुलन के प्रमाण उनके पत्र हैं। यथा :

✻ "सत्गुरु द्वारा प्राप्त अनुभव ऐसे काल में विषमता आदि को समतापने वेदे व अप्रतिबद्ध स्वभावसन्मुख तीव्र वेग करे, यह ही सब से श्रेष्ठ है व शीघ्र मनोरथ पूर्ण होने का यह ही शुभ लक्षण है।" (—पत्रांक : ७)

✻ "अहो गुरुदेव! आपने तो इन (पुण्य-पाप) दोनों से ही निराली वृत्ति दिखा दी है, जो कि इनके होते हुए भी विचलित नहीं होती, खूँटे (ध्रुव) के सहारे से डिगती नहीं है, उसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रतिबंध नहीं है। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि : जो कुछ लाभ है, सो तो यह वृत्ति ही है, अनंत सुखों के पिण्ड के साथ रहती है, फिर चिंता काहे की? यह तो स्वयम् स्वभाव से ही चिंता रहित है, निश्चिंतवृत्ति में चिंतितवृत्ति का तो अत्यंत अभाव है। हे भगवान्! आप की यह वाणी मस्तिष्क में नित्य घूमती रहे, यह ही भावना है।" (—पत्रांक : १५)

* "प्रदेशे-प्रदेशे मैं मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनंद ही आनंद से ओतप्रोत वस्तु हूँ। स्वरूपरचना पर्याय में स्वतः ही हुए जा रही है। इच्छा तोड़ूँ, स्वरूप की वृद्धि करूँ आदि विकल्पों का जिस सहज स्वभाव में सहज-ही अभाव है। अरे! सहज शुद्धपर्याय का भी जिस त्रिकाली ध्रुव वस्तु में सहज-ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मैं हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ।"

(—पत्रांक : १७,)

* "परिणति को आत्मा ही निमित्त होवे अथवा भगवान्....भगवान् की गुँजार करते आप, अन्य संग नहीं, यह ही भावना।" (—पत्रांक : २६)

* "विकल्पों को तो धधकती हुई भट्ठी के योगों का निमित्त है व इस मध्ये ही रहना हो रहा है, जबकि चैतन्यमूर्ति विकल्पों को छूनेवाली भी नहीं है; अधूरी दशा के विकल्पांशों में श्रद्धा में जमी हुई मूर्ति का एकरस आलिंगन कहाँ? चैतन्यमूर्ति के एकरस में ओतप्रोत रहें, यह ही भावना।"

(—पत्रांक : २९)

* "वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ। वर्तमान से ही देवादिक पर अथवा उन-आश्रित राग से किंचित्मात्र लाभ का कारण नहीं; लाभ मानना ही अलाभ है।" (—पत्रांक : ३०)

यों श्री सोगानीजी के व्यक्तित्व में एक ओर निश्चय प्रधानता की विस्मयकारी शैली व दूसरी ओर गुरुभक्ति व निमित्त के यथार्थ मूल्यांकन का अत्यंत सुंदर व स्वाभाविक संतुलन तैरता है, जो आत्मार्थियों के लिए सतही तौर पर विरोधाभास दिखनेवाले ऐसे अभिप्राय में अंतर्निहित परिणाम की अविनाभावी व सहज यथार्थ दिशारूप पहलू के रहस्य को समझने में अत्यंत सार्थक

निमित्त है । यों वीतरागमार्ग के पथिक ही भक्ति व गुरु-महिमा के आवरण में छिपे निजरस को यथार्थतः संवेदित करते हैं ।

✿ गुरु-भक्ति :

यद्यपि श्री सोगानीजी ने निरपवादरूप से स्वतत्त्व की सर्वोच्चता व एकमात्र उसी के अवलम्बन को मुक्तिमार्ग के रूप में सर्वत्र गाया है, तथापि जिन श्रीगुरु के निमित्त से उन्होंने अनादि संसार के एकच्छत्री सरदार दर्शनमोह को परास्त कर, मोक्षमार्ग के प्रथम सोपान को पाया है; उनके अनहद उपकार के मूल्यांकनवश साधक के हृदय में किस असाधारण सर्वार्पणता, भक्ति, महिमा, विरह-वेदना स्पंदित व संवेदित होती रहती है उसका विस्मित-सा कर देनेवाला जीवंत उदाहरण भी उन्हीं के पत्रों में सुस्पष्ट मिलता है । यथा :

✻ "अब तो वहाँ की धूल के लिए भी तड़पना पडता है । गुरुदेव के दृष्टांत अनुसार भभकती भट्ठी में गिरनेका-सा प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ एक दिन में ही मालूम होने लग गया है । धन्य हैं वहाँ के सर्व मुमुक्षु, जिनको सत्पुरुष का निरंतर संयोग प्राप्त है ।" (—पत्रांक : ६)

✻ "हे गुरुदेव! आपकी वाणी का स्पर्श होते ही मानो विश्व की उत्तमोत्तम वस्तु की प्राप्ति हो गई । क्या मैं मुक्त होनेवाला हूँ! अरे! शास्त्रों में जिस मुक्ति की इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्र ने इतना सरल कर दिया !! " (—पत्रांक : १७)

✻ "भरतखण्ड का अलौकिक कर्ता–कर्म अधिकार, आत्मरस से ओतप्रोत वक्ता, साधक मुमुक्षुगण श्रोता, जिनालय की सामूहिक भक्ति, निरंतर अमृतवाणी से संस्कारित–तृप्त

भूमिस्थान आदि समवसरण-से दृश्य पुण्यहीन को नहीं सम्भवते, अतः वियोग है।" (—पत्रांक : २४)

* "शुभयोग में भी थकान अनुभव करनेवाले जीव के लौकिकयोग की तीव्र दुःखदशा पर हे करुणासिंधु! करुणा करो.....करुणा करो, यह ही विनती।" (—पत्रांक : २४)

* "सतत दृष्टिधारा बरसाते, अखण्ड़ चैतन्य के प्रदेश-प्रदेश सहज महान् दीपोत्सव की क्षणे क्षणे वृद्धि करते श्री गुरुदेव को अत्यंत भक्तिभावे नमस्कार!" (—पत्रांक : २५)

* "दरिद्री को चक्रवर्तीपने की कल्पना नहीं होती। पामर-दशावाले को 'भगवान् हूँ...भगवान् हूँ' की रटन लगाना, हे प्रभो! आप जैसे असाधारण निमित्त का ही कार्य है।"(—पत्रांक : २६)

* "अतः तीर्थंकर से भी अधिक सत्पुरुष का योग प्राप्त हुआ है, जिनकी नित्य प्रेरणा उधर से विमुख कराकर स्वयम् के नित्य भण्डार की ओर लक्ष्य कराती रहती है, यहाँ से ही पूज्य गुरुदेव के न्याय अनुभवसिद्ध होकर दृढता प्राप्त कराते हैं।"

(—पत्रांक : ४४)

✿ अध्यात्म-दशा :

यद्यपि विकल्पात्मक वृत्तियों का तो सहज-ही अनुमान कर लिया जाता है परंतु निर्विकल्पता का माप तो बाह्य से नहीं किया जा सकता है, वह तो स्वयम् के अनुभव का विषय है। और अनुभव लेखनी में व्यक्त करना अशक्य होता है। तथापि श्री सोगानीजी ने अपनी प्रवर्तती अध्यात्मदशा को अनुपम पद्धति से यत्किंचित् इंगित किया है। उनकी अंतर्दशा के परिचयार्थ उनके पत्रों व अन्य प्रसंगों को सूक्ष्मता से निरीक्षण करें, तो उसकी प्रतीति सहज-ही हो जाती है।

उनकी आत्मपरिणति स्वस्वरूप में उग्रता से जमी रहती, निरंतर स्वरूपरस प्रगाढ़ होता रहता और स्वरूपघोलन व उसकी धुन अनवरत चलती रहती थी। तादृश उनके मन-वचन-काय योग भी इतने उपशमित थे कि, जिससे वे जनसमुदाय में किसी पैनी नज़रवाले के द्वारा सहज पहचानने में आ सकते थे।

उदाहरणार्थ : बम्बई में एक बार वे एक मुमुक्षु के यहाँ भोजन करने गए, वहाँ अन्य लोग भी आमंत्रित थे, जब भोजन के पश्चात् सभी चले गए तब उसके वयोवृद्ध रसोईया ने उत्सुकतावश पूछा कि, वे एक नये व्यक्ति कौन थे? उस मुमुक्षु ने इस प्रश्न का कारण जानना चाहा, तो रसोईया ने कहा कि : अपनी जिंदगी में मैंने अपने हाथों हजारों लोगों को जिमाया है परंतु आज पहली बार एक 'प्रतिमा' को जिमाया है! वह 'प्रतिमा' श्री सोगानीजी थे।

यद्यपि वे बाह्य में खाने-पीने-बोलने-चलने आदि की प्रवृत्तियों में दिखलाई देते, तथापि उनके गाढ़ अंतरंग परिचितों को ऐसा स्पष्ट ख़याल आता कि, उनकी आत्मपरिणति अंतर में अति आश्चर्यकारी रूप में जमी हुई है।

अपने निवासस्थान में भी उन्हें अपनी शारीरिक आवश्यकताओं का ख़याल तक नहीं रहता था। अपने वस्त्रों आदि का भी उन्हें पता नहीं रहता था। घर में क्या है और क्या नहीं, इसकी जानकारी उन्हें नहीं रहती थी। जो आमदनी की रकम उनको मिलती उसे वे अपनी धर्मपत्नी को सौंप देते।

उन्हें स्वरूपध्यान-घोलन की मुख्यता वर्तती थी और अन्य सब की गौणता, फिर वह चाहे भोजन हो या व्यवसाय या फिर कुछ अन्य। वे अपने कमरे से बाहर कब निकलेंगे या कमरे में

कब चले जाएँगे या किस समय व्यावसायिक प्रवृत्ति हेतु बाज़ार जाएँगे, कुछ-भी निश्चित नहीं था।

उन्हें अपनी पसंदीदा भोजन-सामग्री कुछ न थी; क्या खाया और कैसा था, कुछ भान नहीं रहता था। कभी तो ऐसा भी होता कि, वे भोजन करने के लिए कमरे से बाहर आए और एक–आध रोटी खा कर ही पुनः कमरे में चले जाते और द्वार बंद कर लिया करते।

बहुधा दीर्घ समय ध्यान में बैठने के दौरान थकान लगनेपर वे लेट जाते थे परंतु पैरों की पद्मासनमुद्रा को यथावत् रखते हुए ही। इससे स्पष्ट है कि, शारीरिक अनुकूलता के लिए वे मुद्रा बदल लेते थे, परंतु उपयोग की अंतर्मुखता का प्रयास यथापूर्व बना रहता था।

सभी सम्यग्दृष्टियों के अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी का अभाव होने से उनके तद्निमित्तक निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि—इन तीन प्रकार की निद्रा-प्रकृतियों का भी अनुदय रहता है। श्री सोगानीजी का निद्रा-काल भी सहज-ही अति अल्प हो गया था, जो उनकी अंतर्दशा व उग्र पुरुषार्थ को लक्षित करता है। उन्हीं के वचनानुसार : "मुझे तो पहले दो घण्टे नींद नहीं आती, फिर थोड़ी नींद आ जाए, तो जगते-ही ऐसा लगे कि, क्या नींद आ गई थी!! फिर नींद उड़ जाती है; और यही (स्वरूप-घोलन) चलता रहता है।"

श्री सोगानीजी ने अपनी प्रवर्तती दशा के सम्बंध में जो उल्लेख किया है, वह प्रस्तुत है :

* "गुरुदेवश्री के गुरुमंत्र का उपयोग करते रहने से अर्थात् अखण्ड ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेते रहने से, जैसे–जैसे

पुण्य-विकल्प सहज-ही टूटते जाते हैं वैसे-वैसे आत्मा में सर्व विशुद्धि सहज-ही विकसित होती जाती है।'' (—पत्रांक : २)

* ''मैं मुझमें मेरे गुरुदेव को देखने का सतत प्रयत्न करता रहता हूँ और जब-जब गाढ़ दर्शन होता है तब-तब अपूर्व-अपूर्व रसास्वाद का लाभ लेता रहता हूँ, मानसिक विकल्परूपी भार से हलका होता रहता हूँ, सहज ज्ञानघन स्वभाव में वृद्धि पाता रहता हूँ।'' (—पत्रांक : ३)

* ''सहज परम निवृत्तिमय कारणपरमात्मा का आश्रय पूज्य गुरुदेवश्री ने ऐसा बतला दिया है कि, उसके अवलबम्बन से सहज परम अनाकुलता उत्पन्न होती रहती है।'' (—पत्रांक : ५)

* ''जिस आत्मद्रव्य में परिणाम मात्र का अभाव है, उसमें जम गया हूँ। परिणमन सहज, जैसा होता है, होने दो; हे गुरुदेव! आपके इन वचनों ने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है।''

(—पत्रांक : १९)

* ''राग टूटना निश्चित है; क्योंकि श्रद्धा ने राग-अरागरहित स्वभाव का आश्रय लिया है व वीर्य की क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होने से ज्ञान-आनंदमयी अरागी परिणाम ही वृद्धिगत होंगे, यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।''

(—पत्रांक : १९)

* ''यहाँ तो पूज्य गुरुदेव ने आत्मगढ़ में वास कराकर प्रसाद चखाया है, अतः क्षणिक विकल्प भी सहज विस्मरण होते रहते हैं। कहता हूँ कि : हे विकल्पांश! तेरे संग अनादि से दुःख अनुभव करता आया हूँ, अब तो पीछा छोड़। यदि कुछ काल रहना ही चाहता है, तो सर्वस्व देनेवाले परम उपकारी श्री

गुरुदेव की भक्ति–सेवा–गुणानुवाद में ही उनके निकट ही वर्त।''
(—पत्रांक : ४२)

✿ भावाभिव्यक्ति-क्षमता :

निर्विकल्पदशा के क्षणों में वर्तित विविध गुणों के पर्याय-भावों का ज्यों का त्यों सूक्ष्म विश्लेषण प्रायः कहीं पढ़ने में नहीं मिलता है। और वस्तुस्थिति भी यही है कि, निर्विकल्पदशा को विकल्पगम्य करके उसे लेखबद्ध करना ज्ञानी की विशिष्ट सामर्थ्य का ही द्योतक होता है। निम्नांकित उद्धृत पत्रांश श्री सोगानीजी की उक्त क्षमता का प्रमाण है :

* ''अहो! बिना विकल्प का कोरा आनंद ही आनंद! त्रिकाली गुब्बारे को पूर्ण फुलाये बिना (विकसित किए बिना) अब एक क्षण भी चैन नहीं है। ध्यानस्थ अवस्था में बैठा हुआ, अथाह ज्ञानसमुद्र व उसमें सहज केलि! ऐसा अनुभव मानो 'मैं ही मैं हूँ', आनंद की घूँट पिये जा रहा हूँ! अरे रे! वृत्ति आनंद से च्युत होने लगी...पर वाह रे पुरुषार्थ! तूने साथ रही उग्रता का संकल्प किया, मानो अथाह की थाह सदैव के लिए एक बार में ही पूरी ले लेगा, प्रदेश–प्रदेश व्यक्त कर देगा, सहज आनंद से एक क्षण भी नहीं हटने देगा। पर अरे योग्यता! तूने पूर्णता के संकल्प का साथ नहीं देकर अंतमें च्युत करा ही तो दिया, तो फिर इसका दण्ड भी भुगतना पड़ेगा।'' (—पत्रांक : १४)

✿ अनूठी कथन-पद्धति :

यद्यपि त्रिकालवर्ती सर्व ज्ञानियों की तत्त्वप्ररूपणा में कहीं मतांतर सम्भवित नहीं है, क्योंकि ज्ञानी पदार्थ-दर्शनपूर्वक सिद्धांत निरूपित करते हैं, अतः सभी में तत्त्व अविरोधरूप से अक्षुण्ण रहता है। सभी आचार्यदेवों के वचनों के आलोडन से यह

सुप्रतीत होता है कि, सूत्र बदलते हैं, पर कहीं सिद्धांत नहीं बदलते। तथापि सर्व ज्ञानियों की कथन-शैली में साम्य नहीं दिखता क्योंकि प्रत्येक की शैली में अपनी मौलिकता वर्तती है।

वास्तविक स्थिति तो ऐसी है कि 'त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व; इस-आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्ध वृत्ति; व देवादिक प्रत्ये की आंशिक बाह्यवृत्ति—तीनों अंशों का एक-ही समय धर्मी को अनुभव होता है।—ऐसे निर्बाध ज्ञान से विशिष्ट आत्मा को (—सम्यग्ज्ञानी को) प्रमाण कहते हैं। तथापि ज्ञानी धर्मात्मा विवक्षित विवक्षा हेतु कभी द्रव्यार्थिकनय व कभी पर्यायार्थिकनय की मुख्यता–गौणता की कथन-शैली में विषय प्रतिपादित करते हैं, तो भी सिद्धांत तो त्रिकाल अबाधित ही रहते हैं।

श्री सोगानीजी की द्रव्यदृष्टि की प्रधानतावाली शैली रही है, जो अनादिकाल से पर्यायमूढ़तावश अति जटिल व विकट पर्यायबुद्धिरूपी नाग-पाश के कड़े बंधन में जकड़े हुए जीव को छुड़ाने हेतु परम उपकारभूत है।

यद्यपि उनकी वाणी अति शांत व मृदु थी फिर-भी श्रोता को ऐसा संवेग आ जाता कि, मानो तीव्र पुरुषार्थ से अभी छलांग लगाकर आत्मा आत्मा में स्थिर हो जाए। इसी भाँति उनकी वाणी में कोई ऐसा अद्भुत जोर था कि, जिसके स्पर्श होते-ही पात्र जीव की अनादि से सुषुप्त पड़ी आत्मा एकदम से खड़ी हो जाए।

श्री सोगानीजी की अन्य विशेषता यह भी थी कि: 'ज्ञानभण्डार आत्मा में से ज्ञान उघड़ता रहता है, शास्त्र से नहीं'—इस सिद्धांतवाक्य के वाच्य से, वे स्वानुभूत ज्ञान के प्रकाश में ही सभी जिज्ञासाओं और प्रश्नों का समाधान देते थे।

इसी कारण से प्रायः उनके पत्रों या प्रश्नोत्तर-चर्चा में, शास्त्राधार के बजाय, स्वानुभूत ज्ञानाधार मुख्यरूप से प्रतिबिम्बित होता है। और वस्तुस्थिति भी यही है कि, आगमादि सभी प्रमाणों में अनुभवप्रमाण को ही सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट मान्य किया गया है। श्री सोगानीजी की उक्त विशिष्टता का उदाहरण प्रस्तुत है :

एक बार श्री सोगानीजी के साथ चल रही तत्त्व-चर्चा में एक मुमुक्षु ने यह प्रश्न किया कि 'पर्याय का क्षेत्र भिन्न है या अभिन्न?' इसका उत्तर उन्होंने यों दिया कि 'दृष्टि का विषयभूत पदार्थ पर्याय से-क्षेत्र से भी भिन्न है।'—ऐसे उत्तर में उपादेयभूत परमपारिणामिकभाव की उपादेयता की ठोस ध्वनि सन्निहित है।

वहीं जब दूसरे मुमुक्षु ने प्रश्न किया कि 'अशुद्धपर्याय का उत्पाद कहाँ से हुआ और वह पर्याय व्यय होकर कहाँ गई?' इसका उत्तर उन्होंने यथार्थ पदार्थ-दर्शन से परिणमित सम्यग्ज्ञान की भूमिका में देखते हुए यों दिया कि 'पदार्थ की तीनों काल की पर्याएँ पानी की तरंगवत् अपने आपमें से उद्भव होती हैं और अपने आप में विलीन होती हैं।'

✿ जिनवाणी-प्रेम :

श्री सोगानीजी अपने आत्म-अन्वेषण की अवधि में बहुधा धर्मग्रंथों के अध्ययन में खोये रहते थे। तदर्थ वे नई-नई किताबें ख़रीदते रहे, जिससे इनका संग्रह बड़ा होता गया। उनके अध्ययनकक्ष में सत्साहित्य का विपुल भण्डार था। यद्यपि तत्त्वज्ञान के आत्मसात् हो जाने के पश्चात् उनका पढ़ने के प्रति का झुकाव क्षीण होता गया था; तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों के प्रकाशन आदि तो उनके पास नियमित आते रहते थे। इस प्रकार निरंतर वृद्धिगत होते सत्साहित्य के लिए किराये

के छोटे-से घर में जगह बनाने में उनकी धर्मपत्नी को बड़ी असुविधा होती थी। तथापि ऐसे संयोगों में वे अत्यंत भावुक होकर कहते 'यही तो मेरी पूँजी है; बच्चों के लिए यही तो विरासत में छोड़कर जाऊँगा।' ....''आचार्यों के इन्हीं शास्त्रों से तो आनंदरस बूँद-बूँद कर टपकता है।''

प्रत्यक्ष सत्श्रुतयोग में उनके नेत्र पूज्य गुरुदेवश्री के मुखमण्डल पर ही टिके रहते और वे श्रीगुरु के श्रीमुख से निर्झरित तत्त्वामृत को स्थिर उपयोग से इतनी एकाग्रता से अवधारते रहते कि, उनके अगल-बगल में कौन बैठा हुआ है उसका उन्हें भान तक नहीं रहता था।

✿ प्रचण्ड पुरुषार्थ का अवसर :

सन् १९६१ का वर्ष श्री सोगानीजी के लिए सर्वाधिक हादसों भरा रहा। इसी वर्ष उनके पिताश्री का देहांत हो गया; और उसी के चंद महीनों बाद उनके चाचाश्री हेमचंद्रजी, जिनका उनकी शिक्षा-दीक्षा में विशेष रुचि व योग रहा था, का भी देहावसान हो गया; और इसी वर्ष में उन्हें क्रूर नियति का एक और झटका लगा जिससे उनके शरीर छूटने जैसा योग हो गया था। लेकिन धर्मात्माओं के लिए तो ऐसे प्रसंग महोत्सवरूप होते हैं।

श्री सोगानीजी एक दिन शाम को घर लौट रहे थे। उनके हाथ में एक बैग था। उसमें रुपये होने के भ्रम से कुछ असामाजिक तत्त्वों ने उनके पेट में ९ इंच लम्बा छुरा भोंक दिया। वे वहीं गिर पड़े। अत्यधिक रक्तस्राव से उनकी स्थिति गम्भीर और विशेष चिंताजनक हो गई। अस्पताल में डॉक्टरों को आसानी से उनकी नब्ज़ (Pulse) हाथ नहीं आ रही थी। तत्काल शल्यक्रिया करनी पड़ी। यद्यपि शल्यक्रिया सफल रही तथापि

कुशल डॉक्टरों की कई सप्ताहों की यथोचित सार–सँभाल से उन्हें स्वास्थ्य लाभ सम्भव हो सका। परंतु उनके परिणामों में किसी प्रकार की विह्वलता या आकुलता की गंध तक नहीं दिखलाई देती थी। उनके परिणाम पूर्ववत् ही अत्यन्त सहज, स्वस्थ व शांत रहे। मानो उन्हें सर्वांग समाधान वर्तता हो और आत्मप्रत्ययी सहज पुरुषार्थ ऐसे विकट क्षणों में अत्यंत वर्द्धमान हुआ हो; परिणामतः पूर्व निबंधित शेष कर्मराशि ने अपनी पराजय अंगीकार कर, उस बे-जोड़ पुरुषार्थी के लिए शीघ्र मोक्षगमन का मार्ग प्रशस्त कर दिया हो।

उक्त घटना ने श्री सोगानीजी को विशेषरूप से आत्मकेंद्री बना दिया। अब तो वे यथाशीघ्र दायित्व-बंधन से विमुक्त होकर पूर्णतः मोक्षसाधना में लीन हो जाना चाहते थे। उनकी ऐसी पूर्व भावित भावना अब विशेष बलवती हो गई। जिनधर्म के सत्स्वरूप के सम्बंध में उनका अनुभवज्ञान गहन से गहनतर होता गया। सहजानंद से बाहर झाँकना अब उनके लिए अग्निदाह-सा दुःखद हो गया। यात्रा के अंतिम पड़ाव पर आत्मशांति की छाया उनके आसपास घनिभूत होने लगी।

प्रतिक्षण वर्द्धमान होती उनकी आत्मपरिणति को अब अनात्मभाव अत्यंत बोझरूप लगते। वे भौतिक संसार की उस सीमा तक पहुँच चुके थे जहाँ से उसपार छलाँग लगाना सम्भव हो जाता है। अंतर्चेतना के सारे कक्ष यथोचित खुल चुके थे। मोक्ष के महा द्वार पर दस्तक पड़ रही थी। देश–काल की सीमाएँ टूटने लगी और वे पल, प्रति पल निर्वाणपथ की ओर अग्रसर होते रहे। किंतु यह सब उनके भीतर घट रहा था। बाहर की दिनचर्या में कोई व्यतिक्रम नहीं था। पर्याय का कार्य पर्याय द्वारा सम्पादित हो रहा था।

✿ मुक्तिदाता के अंतिम दर्शन :

श्री सोगानीजी मानो अपने नश्वर शरीर से बंधनमुक्ति पूर्व अपने मुक्ति नियंता, मुक्तिनाथ, निष्कारण करुणा-सागर के प्रति साक्षात् श्रद्धा-सुमन समर्पित करने और उनकी पवित्र चरणरज को अंतिमबार अपने मस्तक पर चढ़ाने के अभीष्टवश, मई १९६४ में 'दादर' में समायोजित पूज्य गुरुदेवश्री की मंगलकारी ७५वीं जन्म जयंती के प्रसंग पर सपरिवार बम्बई पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने मुक्तिदाता के अंतिम दर्शन किए और श्रीगुरु के परम उपकार के प्रति कोटि-कोटि आभार स्वीकारते हुए, भावाँजलि समर्पित की। और वहाँ से लौटने में वे अपनी धर्मपत्नी को अजमेर छोड़ते हुए, ६ जून १९६४ को कलकत्ता आ गए। उस दिन वे अत्यंत शांत और प्रकृतिस्थ दिखाई दिए, स्वस्थ और प्रसन्न।

✿ चिर विदाई :

दूसरे दिन ७ जून १९६४ को श्री सोगानीजी को वातावरण में अस्वाभाविक गर्मी और घुटन का अनुभव हुआ। उन्होंने अपना पलंग सरका कर पंखे के नीचे करवा लिया। उनके सीने में हलका-हलका दर्द होता रहा परंतु उन्होंने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सारे दिन का उपवास। 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ, जो पिछले वर्षों में उनके लिए धार्मिकस्वाध्याय का आधारभूत रहा था, का पारायण। आत्मघोलन व शांतमुद्रा। संध्या को ५ बजे वेदना का कुछ अधिक भान हुआ; फिर-भी स्नान किया, मानो संसार से प्रस्थानपूर्व जड शरीर की शुद्धि कर लेने का उपक्रम हो। संयोगवश उस समय घर में केवल उनकी कनिष्ठ पुत्री कुमुदलता ही थी। पुण्यात्मा को शरीर तो एक व्यर्थ बोझा-सा ही लगता था। काल का मानो सदैव स्वागत था। वस्तुतः पुण्यात्मा

के लिए तो मृत्यु एक बड़ा भारी महोत्सव-सा होता है। शांत शरीर बिस्तर पर पड़ा रहा और वे अपने स्व में लीन हो चुके थे। परम पुण्यात्मा को ऐसा योग बना कि, अकस्मात् हृदयगति ने रुद्ध होकर आत्मार्थी के लिए, शरीर के इस व्यर्थ बोझ से मुक्त कर, वास्तविक मार्ग प्रशस्त कर दिया। डॉक्टर आया, पर उसके लिए करने जैसा कुछ नहीं रहा।

बिजली की तरह यह ख़बर चारों ओर फैल गई। किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि, इस प्रकार हटात् दीप निर्वाण हो जाएगा। श्रद्धापूर्वक उनके पार्थिव शरीर को चंदन-कर्पूर युक्त चिता की भेट कर दिया गया। पीछे छूट गया पुण्यात्मा का यशः शरीर।

✿ श्रीगुरु के उद्‌गार :

पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कहानजीस्वामी के पास जब श्री सोगानीजी के आकस्मिक निधन की ख़बर पहुँची, तो उन्होंने वैराग्यपूर्ण सहज भाव से अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा : 'अरे! आत्मार्थी ने मनुष्य जन्म सफल कर लिया है। स्वर्ग में गए हैं और निकट भवि हैं।'

अनेक आत्मार्थियों के जिज्ञासा भरे प्रश्नपत्र भी श्री सोगानीजी के पास आते थे; तादृश सोनगढ़ तथा बम्बई के प्रवास में अनेक मुमुक्षुओं के साथ तत्त्वचर्चा होती थी; उन सब का वे यथोचित समाधान देते। इनमें से विशेष कर सन् १९६२-१९६३ में हुई तत्त्वचर्चा को अनेक मुमुक्षुओं ने लिख लिया था। सद्‌भाग्य से वह (उक्त) सामग्री उन मुमुक्षुओं के पास सुरक्षित थी; जिसे पुस्तकाकाररूप में प्रकाशित करने हेतु पूज्य गुरुदेवश्री की स्वीकृति मिल जाने पर, उस सामग्री को संकलित-सम्पादित

करके 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' शीर्षक से ग्रंथारूढ़ किया गया। जब इस ग्रंथ की छपाई का कार्य पूरा हो गया, तो उसकी प्रति पूज्य गुरुदेवश्री को देते हुए इस ग्रंथ हेतु आशीर्वादस्वरूप उनके हस्ताक्षरों की टिप्पणी की याचना की, तो उन्होंने ग्रंथ के सतही अवलोकनपर से लिखा कि :

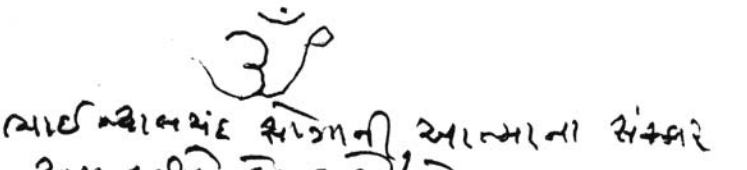

(पूज्य गुरुदेवश्री का आशीर्वाद स्वहस्ताक्षर में)

(हिन्दी भाषांतर : "भाई निहालचंद सोगानी ने आत्मा के अच्छे संस्कार साथ लेकर देह छोडी है।")

परंतु इस ग्रंथ के तलस्पर्शी अध्ययन से श्री सोगानीजी के 'अक्षरदेह' पर से पूज्य गुरुदेवश्री को स्वर्गस्थ आत्मा की यथार्थ, उच्च शुद्ध अंतर्दशा की सुप्रतीति हो गई। और तदुपरांत तो वे अपने प्रवचनों में बारम्बार श्री सोगानीजी की आध्यात्मिक उपलब्धियों, उनके असाधारण पुरुषार्थ व मार्मिक शैली की मुक्तकंठ से सराहना करते रहे। कभी-कभी तो वे भावविभोर होकर यहाँ तक कहते कि :

"श्री सोगानीजी वैमानिक देव में गए हैं, वहाँ से निकलकर मनुष्यभव प्राप्त कर झपट करेंगे; और वे मेरे पहले मुक्ति में जाएँगे। और जब मैं तीर्थंकरभव में (—चौथे भव में) मुनिदीक्षा के समय सर्व सिद्धों को नमस्कार करूँगा तब मेरा नमस्कार उन्हें भी प्राप्त होगा।"

धन्य धन्य हैं ऐसे गुरु !! धन्य हैं ऐसे शिष्य !!

❑ वस्तुतः श्री निहालचंद्रजी सोगानी की जीवनगाथा साधना से सिद्धि तक छलांग लगाने का वृत्त है । कर्मयोग और अध्यात्मयोग की सम्भवित साधना का यह एक अनुपम उदाहरण है । जीवनयात्रा यदि बाह्य जगत्प्रति हो, तो उसको समझना और रेखांकित करना आसान है किंतु वे तो अंतर्जगत् के यात्री थे । उनकी उपलब्धियों का यथार्थ मूल्यांकन, उस दशा को सम्प्राप्त अथवा दशासम्प्राप्ति में संलग्न जीव ही कर सकता है, अन्य नहीं ।

'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' ग्रंथ में संकलित अनेको गम्भीर आध्यात्मिक पत्र व सैकड़ों प्रश्नोत्तर, जिनधर्म के सम्बंध में श्री सोगानीजी के तलस्पर्शी व अनुभवमयी ज्ञान के प्रमाण हैं । उनके श्रीमुख से व समर्थ लेखनी से सत् दर्शन और मोक्षमार्ग के सम्बंध में प्रकट होनेवाली सचोट वाणी ही उनकी थाती है । पुस्तक के रूप में प्रकाशित उनकी प्रज्ञा का यह प्रकाश-स्तम्भ भावी पीढ़ी का मार्गदर्शन करता रहेगा, ऐसा विश्वास है ।

सत्पुरुषों का प्रत्यक्ष योग जयवंत वर्तो !

त्रिकाल जयवंत वर्तो !

—प्रकाशक

पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी

के

जीवन व अंतरपरिणति का

भक्ति-गीत

(दोहा)

भव-सागर से पार उतरने का समीप जब काल।
तब मनुष्य-पर्याय प्राप्त करता है कोई निहाल॥

(वीरछंद)

पँच परावर्तन में भ्रमते पुण्य पुरुष का पका स्वकाल।
भारत के अजमेर नगर में सोगानी-कुल हुआ निहाल॥

सत्य-पिपासा निर्भय-वृत्ति कर्म-निष्ठ अरु परिश्रमशील।
प्रामाणिक व्यवहार-कुशलता से व्यापार हुआ गतिशील॥

बचपन से ही अंतर्मन में चलता था वैचारिक द्वंद्व।
कौन ? कहाँ से आया हूँ मैं ? जिज्ञासा थी सदा ज्वलंत॥

अर्द्धनिशा के सन्नाटे में जग स्वप्नों में खो जाता।
किंतु पिपासु अंतरस्तल में ध्रुवतारा खोजा करता॥

किंतु अतृप्त तड़पते मन को कोई राह न मिल पाती।
बाह्य कार्य विष-तुल्य भासते बेचैनी बढ़ती जाती॥

जिन-दर्शन अरु संत-समागम धर्म-ग्रंथ का पारायण।
चिंतन मनन और मंथन के गलियारों में थी भटकन॥

एक दिवस मंगल बेला में इक साधर्मी जन आया।
गुरु कहान-संदेश-संकलन 'आत्मधर्म' लेकर आया।
षट् आवश्यक नहीं किंतु निश्चय से है आवश्यक एक।
पर्यायों से पार त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव शुद्धातम एक॥
रोम-रोम झनझना उठा अरु गूँज उठे सम्पूर्ण प्रदेश।
अरे! अरे! मिल गया मुझे अब परम शांतिमय आत्म-स्वदेश॥
पंक्ति-पंक्ति पढ़ 'आत्मधर्म' की मानो प्रगटा दिव्य प्रकाश।
मोह-महातम क्षीण हो गया शांत हुई मन की चिर-प्यास॥
दिशा-बोध हो गया किंतु अब यात्रा हो कैसे प्रारम्भ?
स्वानुभूतिमय मंगल परिणति जीवन में कब हो आरम्भ?
मार्ग-प्रकाशक गुरु-चरणों के दर्शन की अब प्यास जगी।
गुरुवर की अंतर्मुख मुद्रा अंतर्मन में सदा बसी॥
मंगलमय इक धन्य घड़ी में गुरु-दर्शन का योग बना।
ज्ञान भिन्न है राग भिन्न है गुरु-गर्जन उपदेश सुना॥
प्रगट ज्ञान का अंश स्वयम् भी राग-भाव से भिन्न सदा।
अहो! ज्ञान के प्रगट अंश में पूर्ण ज्ञान-सागर उछला॥
उग्र हुई पौरुष की धारा दिवस-रात्रि का बोध मिटा।
स्वर्णपुरी आवास-कक्ष में जमकर पुरुषार्थी बैठा॥
अंतर्मुख उपयोग हो गया निर्विकल्प आनंद उछला।
चिर-पिपासु परिणति को अपना ज्ञेय-ध्येय-श्रद्धेय मिला॥
क्षणिक वृत्ति मैं नहीं मात्र चित्-पिण्ड एक ज्ञायक ध्रुवधाम।
पर्यायों से पार त्रिकाली चिदानंदमय आतमराम॥
करना कुछ-भी शेष नहीं बस! मैं निष्क्रिय ध्रुव तत्त्व महान्।
एक यही धुन चले निरंतर ज्ञायक ही मेरा विश्राम॥

पुरुषार्थी निश्चिंत हो गया परिजन सब चिंतातुर-से।
गुरु-चरणों में बारह दिवस बिताकर अपने घर लौटे॥

उदासीन वृत्ति में लौकिक दायित्वों की नहीं सुवास।
व्यावसायिक कार्यों के कारण कोलकाता में किया निवास॥

महानगर के कोलाहल में अंतर्दृष्टिवंत अकेला।
बाह्य व्यवस्थाएँ निर्बल थीं किंतु मस्त वह सुखी अकेला॥

जब-जब सांसारिक प्रसंग आकर्षित करते अपनी ओर।
मुझसे कुछ-भी रखो न आशा समझो पँगु कहे मन मोर॥

बाह्य प्रसंगों में जुड़ते, पर अंतर उदासीन परिणाम।
कर्म-कीच में बहे ज्ञान की निर्मल धारा अति अभिराम॥

प्रबल उपाधियोग बीच भी मात्र एक निजरस की चाह।
परिणामों का भी न रहा रस कहाँ गई विषयों की दाह॥

असत्संग का संग वर्तता किंतु रुचि में बसे स्वसंग।
मात्र एक गुरुसंग कामना किंतु बाह्य में विष-सम संग॥

जहाँ लगे नहिं किंचित्-भी मन वहीं लगाना पड़ता मन।
लौकिक जन से बात न करना चाहें लेकिन खिरे वचन॥

गुरु-चरणों के लिए तड़पता मन, नहिं किंतु उदय अनुकूल।
गुरु-वाणी की चाह रहे पर दुर्लभ स्वर्णपुरी की धूल॥

कभी-कभी तो फूट-फूट कर रो पड़ता साधक का मन।
कब आएगा पुण्य-योग जब मिले निरंतर गुरु-दर्शन॥

अरे विकल्प! तुझे यदि तेरी आयु प्रिय हो, तो सब छोड़।
गुरु-चरणों में ले चल मुझको या अपने को निज में मोड़॥

वरना उनके दिए वीतरागी शस्त्रों से तेरा अंत।
हो जाएगा, अतः गुरु के चरणों में कर भव का अंत॥

बाहुबली प्रभु के दर्शन का योग बना सन् त्रेपन में।
महामहोत्सव में भी बस ! एकांत चाह रहती मन में ॥
अर्द्धनिशा के सन्नाटे में ध्यान धरें प्रभु-चरणों में।
प्रभु की अंतर्मुख मुद्रा लख डूब जाएँ निज-घोलन में ॥
करे ध्यान पर्याय हमारा मैं क्यों करूँ किसी का ध्यान ?
अपनापन बस ! ध्रुव ज्ञायक में, परिणति में पुरुषार्थ प्रधान ॥
मैं तो यूँ का यूँ रहता हूँ पल-पल परिणमते परिणाम।
निश्चयनय का विषय ध्येय है, द्रव्य तथा पर्याय का ज्ञान ॥
पर्यायों से पार अपरिणामी त्रैकालिक ध्रुव चिद्रूप।
परिणामों का भी कर्ता नहिं, ज्ञायक भाव सदा शिवभूप ॥
करना सो मरना है क्योंकि मैं अकार्य-कारण ध्रुवधाम।
सहज प्रगट हो ऐसा निर्णय तो मिलता शाश्वत विश्राम ॥
सहज स्वयम् ही पर्यायों में निज स्वरूप-रचना अविराम।
इच्छा तोड़ूँ अरु स्वरूप में जमूँ, विकल्पों का क्या काम ?
सहज शुद्ध पर्यायों का भी त्रैकालिक में रहा अभाव।
नित्य त्रिकाली पूर्ण वस्तु में ओतप्रोत आनंद स्वभाव ॥
गुरु-वाणी के स्पर्शमात्र से सर्वोत्तम निधि प्राप्त हुई।
धन्य मुमुक्षु स्वर्णपुरी के जिनको वाणी सुलभ हुई ॥
जिनवाणी में जिसकी महिमा खूब बखानी है वह मुक्ति।
क्या मुझको मिलनेवाली है, गुरु दर्शाते सुलभ सुयुक्ति ॥
भरतखण्ड का अहो ! अलौकिक कर्तृ-कर्म अधिकार महान्।
अनुभव रस में भीगे वक्ता, श्रोता झेलें वचन महान् ॥
भव्य जिनालय में नित गूँजे जिन-भक्ति के सुमधुर गान।
पुण्यहीन को कहाँ सुलभ है समवसरण-सा दृश्य महान् ?

चक्रवर्ती की करे कल्पना कैसे कोई दरिद्र कहो ?
मैं ही हूँ भगवान्, रटे कैसे पामर पर्याय अहो !
यह तो गुरुवर जैसे महापुरुष के ही वश की है बात ।
जिनकी सतत् प्रेरणा देती अंतर्वैभव की सौगात ॥
इसप्रकार अंतर्घोलन की मस्ती में वे आतमराम ।
निद्रा भी अति अल्प हो गई चाहें निज में ही विश्राम ॥
मैं अपने में ही गुरुवर को सदा देखता हूँ अभिराम ।
भार उतरता है विकल्प का होता है अपूर्व रसपान ॥
बिना विकल्पों के कोरा आनंद ही आनंद वर्त रहा ।
त्रैकालिक गुब्बारे को अब बिना फुलाये चैन कहाँ ?
ज्ञानानंद-सागर अथाह की लहरों में मैं खेल रहा ।
मैं ही मैं हूँ, ऐसे अनुभव की कल्लोलों में डूबा ॥
एक मित्र ने कहा गुरु-वाणी से अनुपम बोध हुआ,
अतः गुरु को बतलाने में किंचित्-भी अनुचित क्या ?
पुष्प महकता है उपवन में या वन में, क्या अंतर है ?
निर्मानी ज्ञानी का तो गुण-गोपन ही अभ्यंतर है ॥
मिल मालिक ने कहा हमें भी, समझाने घर आओ ।
किंतु नहीं देखी जिज्ञासा, अतः व्यर्थ में क्यों जाओ ?
यद्यपि उनको ख़ुश करने से, मिल सकता था लौकिक लाभ ।
किंतु धन्य है निस्पृहवृत्ति, दिखते हैं सम लाभ–अलाभ ॥
सन् इकसठ में पूज्य पिता एवम् चाचा का हुआ वियोग ।
और असामाजिक तत्त्वों के शस्त्र प्रहार का भी दुर्योग ॥
शल्यक्रिया तत्काल हो गई कई माह तक का आराम ।
किंतु नहीं आकुलता कोई, थे अत्यंत शांत परिणाम ॥

मुम्बई में हीरकजयंती पर गुरु-दर्शन का बना प्रसंग।
मुक्तिदूत के अंतिम दर्शन का मानों था सहज प्रसंग॥

सन् चौसठ में सात जून को अनायास उपवास किया।
सीने में कुछ दर्द उठा पर उस पर कुछ नहीं ध्यान दिया॥

दिन भर स्वाध्याय अरु घोलन, सायंकाल स्नान किया।
बढ़ी वेदना रुकी हृदयगति, आत्मार्थी ने प्रस्थान किया॥

शांत शरीर पड़ा बिस्तर पर पुरुषार्थी निज लीन हुआ।
अरे! देह के व्यर्थ बोझ से उन्हें मृत्यु ने मुक्त किया॥

गुरु कहान को प्राप्त हुई जब देह विलय की दुःखद ख़बर।
उनके श्रीमुख से निकले तब सहज भाव से ये उद्गार॥

आत्मार्थी ने किया सफल यह दुर्लभ मानव-जन्म अरे!
देवलोक में जन्म लिया है निकट भव्य यह जीव खरे॥

आत्मार्थी के उद्गारों का यह अपूर्व संकलन हुआ।
स्वानुभूति के रसिक जनों को 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' मिला॥

गुरुवर ने जब देखे आत्मार्थी के ये अनुपम उद्गार।
अपने प्रवचन में इसका उल्लेख करें वे बारम्बार॥

आत्मार्थी की अंतर्दृष्टि का गुरु को विश्वास हुआ।
होकर भाव विभोर गुरु ने मंगल आशीर्वाद दिया॥

सोगानी तो गए स्वर्ग में पुनः मनुज-भव पाएँगे।
मुझसे भी पहले मुक्ति में वे पुरुषार्थी जाएँगे।

—पण्डित अभयकुमार जैन, शास्त्री,
जैनदर्शनाचार्य, देवलाली

ॐ

परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि प्रकाश

(प्रथम खण्ड)

आध्यात्मिक पत्र

परम अद्भुत, जीवन उद्धारक, जन्म-मरणरूपी रोग से रहित करनेवाली, योगिराज **श्री कहान गुरुदेव** की तीक्ष्ण द्रव्यदृष्टि के अजोड प्रकाशक

पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के द्वारा साधर्मियों के प्रति

लिखे गए

पत्र

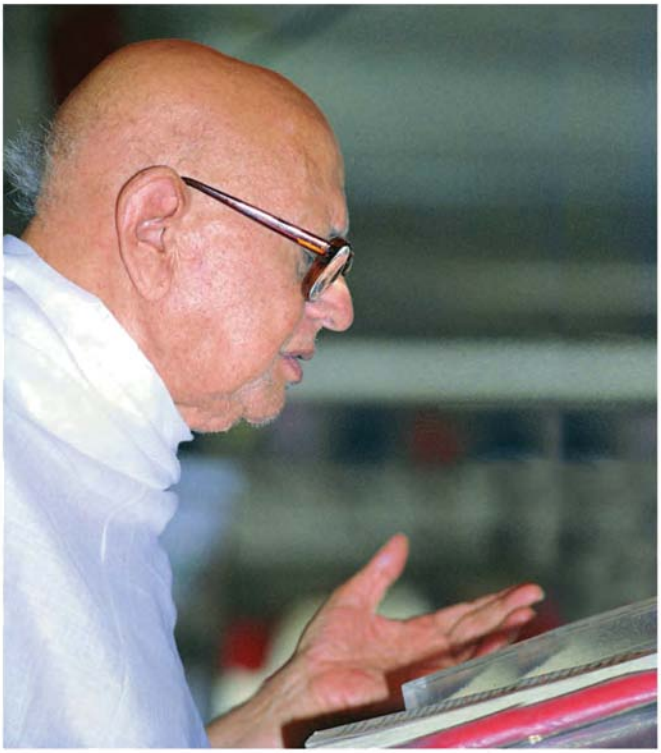

मुक्तिनाथ की इस दास प्रत्ये सहज कृपादृष्टि इस बात का द्योतक है कि : अति उमंगभरी मुक्तिसुंदरी अप्रतिहतभावे, मुझ कृतकृत्य के साथ, महा आनंदमयी अस्खलित, परमगाढ़ आलिंगनयुक्त रहकर शीघ्रातिशीघ्र कृतकृत्य होना चाहती है।

परम पिताश्री ने हम सब पुत्रमण्डल को अटूट लक्ष्मीभण्डार भोग हेतु प्रदान किया है, इसे नित्य भोगो, नित्य भोगो, यह ही भावना है।

तीर्थंकरयोग सूचित करता है कि : सब सज्जन पुत्रगण इस भोग को निःसंदेह भोगते हुए नित्य अमर रहेंगे।

मात्र मोक्ष अभिलाषी
निहालचंद्र सोगानी

ॐ

१

अजमेर

२२-३-१९४९

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

कार्ड आपका मिला, प्रतिष्ठा व विहार आदि के समाचार ज्ञात हुए।

जबसे आपका कार्ड आया है तबसे रोज़ कुछ जवाब लिखना है, ऐसा विकल्प होता है, परंतु लेखनी नहीं बढ़ती, कारण क्या लिखूँ ऐसा कोई सहज विषय स्मरण नहीं होता.....

'मैं त्रिकाली सहज ज्ञानस्वभावी ध्रुव पदार्थ हूँ व प्रतिक्षण ज्ञानरूप परिणमन मेरा सहज स्वभाव है; जड आश्रित परिणाम जड के हैं'—पूज्य गुरुदेव के इस सिद्धांत की घूँटी ने क्षणिक परिणाम की ओर के वलण (झुकाव) के रस को फीका कर दिया है व सहज स्व के सिवाय कोई कार्य में रस नहीं आता है, अतः जवाब आदि नहीं पहुँचने में व विलम्ब आदि होने में मेरी ओर का ख़याल न करना ।

उत्कृष्ट शुभ-दृष्टि की अपेक्षा आपको महाराजश्री के व्याख्यानों की अनुकूलता है, परंतु यहाँ तो अशुभ प्रतिकूलताएँ बहुत हैं । फिर-भी 'मुझे विश्व में कोई भी पदार्थ अनुकूल है न प्रतिकूल है'—इस सिद्धांत को लेकर मैं प्रतिकूलताओं को भी अनुकूल ही समझता हूँ । कारण ऐसी अवस्था में परिणाम केवल स्वसामर्थ्य का ही आश्रय लेते रहें, यही एक प्रयोजन रहता है व पर-तरफ़ अधिक नहीं अटक पाते।.....

आत्म-स्वास्थ्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे, यही अभिलाषा है; जो कि (यद्यपि) आत्मा तो अभी-ही पूर्ण स्वस्थ्य और अभिलाषारहित है, परंतु अपूर्ण परिणमन की अपेक्षा ऐसा लिखा है।

आपका
निहालचंद्र

❀

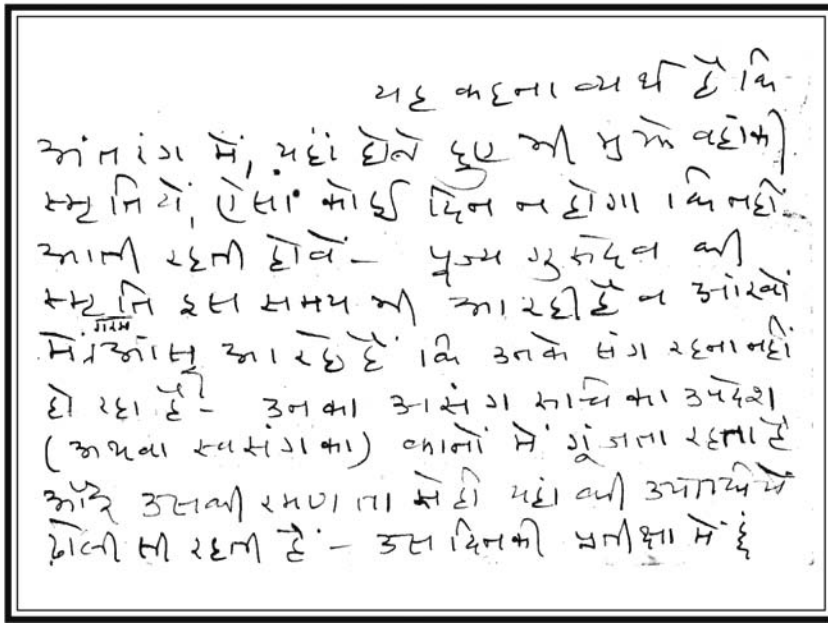

२

अजमेर

२९-९-१९४९

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

अभी–अभी आपका कार्ड मिला ।.... मैं परिस्थितिवश दीवाली के पहेले वहाँ (सोनगढ़) नहीं आ सकता । दीवाली के दूसरे या तीसरे दिवस वहाँ आऊँगा ।..

वहाँ 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' पर व्याख्यान होता है; मैंने पहले भी ऐसे समय पर वहाँ उपस्थित होना सोचा था; परंतु अभी भी नहीं आ सकता, यह पुण्य की कमी है । साथ-ही गुरुदेवश्री के गुरुमंत्र का उपयोग करते रहने से अर्थात् अखण्ड ज्ञानस्वभाव का आश्रय लेते रहने से, जैसे–जैसे पुण्य-विकल्प सहज-ही टूटते जाते हैं वैसे–वैसे आत्मा में सर्व विशुद्धि सहज-ही विकसित होती जाती है, अतः परम संतोष भी है ।

कलकत्ता व हिसार आदि से पण्डितगण व मुमुक्षुजन वहाँ आ रहे हैं, यह उनके पुण्य का उदय समझो; और यदि उन्होंने वहाँ यथार्थ दृष्टि कर ली, तो उनके परम पुण्य का उदय समझो । निमित्त–नैमित्तिक ज्ञान का सम्बंध बताता है कि, जहाँ तीर्थंकर की तैयारी होती है वहाँ गणधर से लेकर केवलियों तक की भी कमी नहीं रहती । समुदाय का समुदाय ही केवलज्ञान की तैयारी के सन्मुख बढ़ता ही जाएगा, ऐसी दृढ़ प्रतीति होती जाती है ।

अजमेर का वातावरण अभी शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टियों से भरा हुआ है । कभी–कभी गुरुदेव की ठोस, निःशंक, निःस्वार्थ व स्वआश्रित वाणी का असर फैलता है; फिर पूर्व आग्रहों के कारण

दब जाता है; अंतमें पात्र होंगे वे ठिकाने आ जाएँगे।

प्रतिमाजी पर से कीकी (आँख) का चिह्न निकाल लिया गया यह बहुत ही अच्छा हुआ, ऊपरी–बाह्य दृष्टिवालों के यह एक बाधक कारण होता था।

पूज्य गुरुदेव को अत्यंत भक्तिपूर्वक प्रणाम व और मुमुक्षु भाईयों को यथायोग्य।

आपका
निहालचंद्र

❀

* भगवान् अंतर में बिराजते हैं उन्हे बाहर विकल्पों में और राग की क्रिया में अज्ञानी खोजते हैं।
* सम्पूर्ण सिद्धांत का सार का सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुख होना वह है।
* आत्मवस्तु जो ज्ञानानंद सहजानंद प्रभु है उसका जिसे ज्ञान हुआ उसे आत्मा भासित होती है।
* ध्रुववस्तु स्वयम् ध्रुववस्तु को नहीं जानती है परंतु पर्याय में ध्रुववस्तु जानने में आती है।

—पूज्य गुरुदेवश्री

३

अजमेर

३-७-१९५०

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

आपका कार्ड प्राप्त हुआ । आरम्भ में ही सर्वत्र उपादेय, यथोचित विशेषणों द्वारा स्तुत्य गाढ़ आत्मसंवेदनरूप आपका नमस्कार पढ़कर व आत्मस्वास्थ्य में निरंतर वृद्धि की भावना देखकर चित्त अत्यंत प्रसन्न हुआ ।

पूज्य गुरुदेवश्री का मुमुक्षुगणसहित राजकोट के विहारकार्य का सुंदर धर्मप्रभावनापूर्वक पूर्ण होना जानकर इस बात की प्रतीति होती है मानो नायकसहित सर्व संघ का निश्चय-प्रभावनारूपी कार्य भी शीघ्र व निर्विघ्न रीति से पूर्ण होनेवाला है । आपश्री का निश्चित स्थान, सोनगढ़ का आगमन इस बात का द्योतक होता है मानो हम सबकी परिणति का त्रिलोकरूपी राजकोट का विहाररूपी भ्रमण समाप्त होकर निश्चित अविनाशी स्वस्थान—अमृतमयी चैतन्यलोक आत्मगढ़—में आगमन हो रहा है, जहाँ कि सहज आनंद से तरंगित सहज आत्मरमणरूपी विहार सादि-अनंतकाल तक स्वाभाविक ही होता रहेगा ।

पूर्व उदय के योग से मैं आप जैसे पुण्यशालियों की तरह श्रीगुरुदेव के समीप रहकर उनके संग का, उनके वचनामृत का निरंतर लाभ नहीं ले सक रहा हूँ, इसका मुझे महान्-महान् खेद होता है । साथ-ही उनके बोध द्वारा बोधित मुझे यह संतोष भी होता है कि, निश्चय से सत्गुरुदेव मुझसे दूर नहीं हैं—जहाँ मैं हूँ वहाँ ही मेरे गुरु हैं, अतः मैं मुझमें मेरे गुरुदेव को देखने का

सतत प्रयत्न करता रहता हूँ और जब–जब गाढ़ दर्शन होता है तब–तब अपूर्व–अपूर्व रसास्वाद का लाभ लेता रहता हूँ, मानसिक विकल्परूपी भार से हलका होता रहता हूँ, सहज ज्ञानघन स्वभाव में वृद्धि पाता रहता हूँ। सोनगढ़ की चिन्मय, भव्य, दिव्यमूर्ति को अधिक समीप होकर गहन दृष्टि से देखता रहता हूँ।

आशा करता हूँ कि, जुलाई माह के अंत तक लगभग एक माह के लिए वहाँ (सोनगढ़) रहने को आ सकूँगा। आशा है वहाँ सर्व कुशल होंगे। आपका वहाँ का पत्र कभी–कभी आने से एक प्रकार का सम्बंध वहाँ का बने रहने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है, यह मेरे पुण्य का योग है, ऐसा मानता हूँ। यहाँ योग्य कार्य लिखें।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र सोगानी

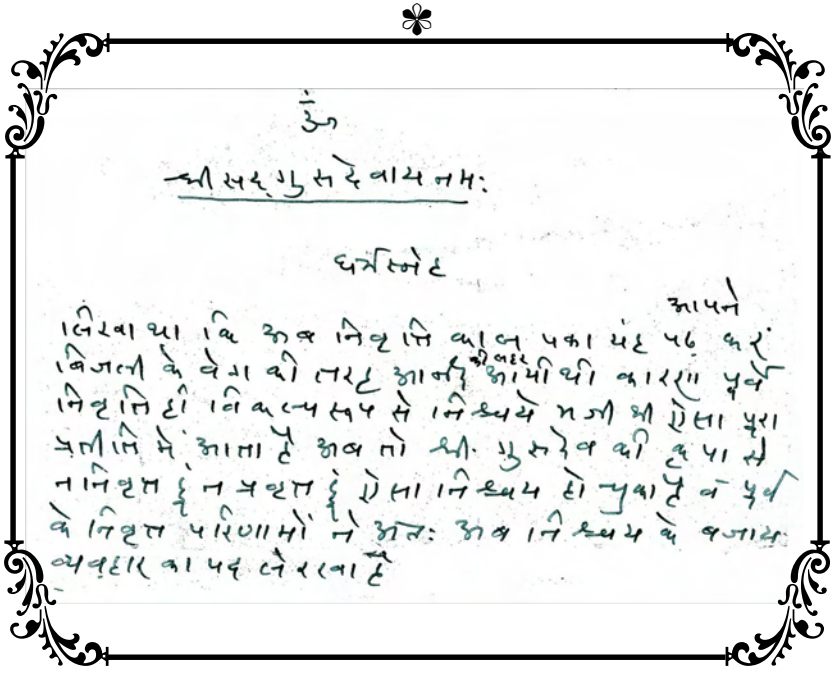
ॐ

श्रीसद्गुरुदेवायनमः

धर्मस्नेह

आपने
लिखवाया कि अब निवृत्ति बाबत पत्र पढ़ कर
बिजली के वेग की तरह आनंद आदि की कारण पूर्व
निवृत्ति हो विकल्परूप से निश्चय मजी ऐसा पूरा
प्रतीति में आता है अब तो श्री. गुरुदेव की कृपा से
न निवृत्त है न प्रवृत्त है ऐसा निश्चय हो चुका है व पूर्व
के निवृत्त परिणामों ने अतः अब निश्चय के बजाय
व्यवहार का पद लेरहा है

४

कलकत्ता

२१-६-१९५२

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

आपका कार्ड अजमेर से लौटकर यहाँ आया, कारण मैं अधिकतर आजकल यहाँ ही रहता हूँ । योग कुछ ऐसा ही है कि , आर्थिक सम्बंध की अपेक्षा प्रत्यक्ष तौर पर मेरा धार्मिक संग इस समय दूर-सा हो रहा है और मैं बहुत समय से सोनगढ़ नहीं आ सक रहा हूँ । यह कहना व्यर्थ है कि, अंतरंग में, यहाँ होते हुए भी, मुझे वहाँ की स्मृतियाँ ऐसा कोई दिन न होगा कि, नहीं आती रहती होवे । पूज्य गुरुदेव की स्मृति इस समय भी आ रही है व आँखों में गर्म आँसू आ रहे हैं कि, उनके संग रहना नहीं हो रहा है । उनका असंगरुचि का उपदेश (अथवा स्वसंग का) कानों में गूँजता रहता है और उसकी रमणता से ही यहाँ की उपाधियाँ ढीली-सी रहती हैं । उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ कि, कब उस गरजती हुई दिव्यमूर्ति के चरणों में शीघ्र अपने आपको पाऊँ ।....

आशा करता हूँ कि, आपकी परिणति स्वस्थ्य होगी । पूज्य गुरुदेव के चरणों में मेरा सादर भक्तिपूर्वक नमस्कार और सब भाईयों से धर्मस्नेह ।...

धर्मस्नेही

निहालचंद्र सोगानी

❀

५

कलकता

२८-१०-१९५२

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

.....कुछ ऐसा योग है कि, अभी तक मेरा उधर (सोनगढ़) आना होता ही नहीं है । सहज परम निवृत्तिमय कारणपरमात्मा का आश्रय पूज्य गुरुदेव ने ऐसा बतला दिया है कि, उसके अवलम्बन से सहज परम अनाकुलता उत्पन्न होती रहती है; कहीं आने-जाने आदि के समस्त विकल्पोंरहित अनादि-अनंत स्व में ही स्थिर हूँ, तो कहाँ आना व कहाँ जाना? फिर-भी वहाँ न आने का खेद वर्तता रहता है ।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

❀ पर की मिठास तुझे चैतन्य की मिठास (लेने) में विघ्न करेगी, इसलिए भाई! विवेकपूर्वक पर की मिठास छोड़ । —पूज्य गुरुदेवश्री

६

अजमेर

१८-४-१९५३

आत्मार्थी.....धर्मस्नेह ।

मैं यहाँ कल आ पहुँचा था ।....स्वकुटुम्बियों से भी अधिक वात्सल्ययुक्त आपका व्यवहार प्राप्त होने से इस समय की मेरी सोनगढ़-यात्रा अपूर्व रही । महोत्सव के आरम्भ से अंत तक के वहाँ के सुखदायी दृश्य अब तक स्मृति पर दौड़ते रहते हैं ।

गुरुदेव के निकट रहने से पर्यायस्वभाव उग्रतर रहा करता था व सोनगढ़ स्थान व वहाँ के मुमुक्षुओं की अपेक्षा-सी हो जाया करती थी, परंतु अब तो वहाँ की धूल के लिए भी तड़पना पड़ता है । गुरुदेव के दृष्टांत-अनुसार भभकती भट्ठी में गिरने का-सा प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ एक दिन में ही मालूम होने लग गया है । धन्य हैं वहाँ के सर्व मुमुक्षु, जिनको सत्पुरुष का निरंतर संयोग प्राप्त है ।

सब सहजानंद की रमणता में प्रचुर मस्त रहें, यह ही आकांक्षा है ।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

❀ पदार्थ का सहज स्वभाव अविकृत होता है ।

—पूज्य गुरुदेवश्री

७

कलकत्ता
१८-५-१९५३

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

तीव्र धर्मानुरागी....

धर्मस्नेही का पत्र दूर से देखते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है। आपका कार्ड पढ़ा।

धन्य हैं गुरुदेव, उनका जन्म-दिवस व जयंती का प्रत्यक्ष लाभ लेनेवाला पुण्यशालियों का समूह!

जिनके दर्शन मात्र से तीव्र मुमुक्षु कृतकृत्य हो जाते हैं, ऐसे गुरुदेव के जन्म-दिवस बारम्बार उजवाते रहें, यह ही भावना है।

एक युग से आपकी निरंतर पूज्य परमोपकारी गुरुदेव के प्रति भक्ति व तत्त्व की तीव्र जिज्ञासा भरा हृदय, हृदय में पूर्ण अंकित है। प्रारब्ध ने अब के वहाँ के सहवास का ऐसा संयोग कराया कि, वहाँ की अनुपस्थिति में, मनोयोग, वहाँ के लक्ष्य आश्रित, मौनपणे, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी, आत्म-कथा करता रहे। मानो भावी अपूर्व विकल्पों के लिए एक नये निमित्त का जन्म हुआ।

यहाँ संग असत्संग का है, उदय नीरस है। वहाँ (–सोनगढ़) का योग निकट भविष्य में होने के आसार दिखाई नहीं देते, अतः अत्यंत उदासीनता है व व्यवहार में तो बेभान-सी दशा हो जाया करती है।

सत्गुरु द्वारा प्राप्त अनुभव ऐसे काल में विषमता आदि को

समतापने वेदे व अप्रतिबद्ध स्वभाव-सन्मुख तीव्र वेग करे, यह ही सब से श्रेष्ठ है व शीघ्र मनोरथ पूर्ण होने का यह ही शुभ लक्षण है ।

बंध-रुचिवाला सर्व क्षेत्र–कालादिक में बंधरूप ही रहता है, अबंध-रूचिवाला सर्व क्षेत्र–कालादिक में अबंधरूप ही रहता है, यह नियम है ।

''देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मानि ।
यत्र यत्र मनोयाति, तत्र तत्र समाधयः ।।''

(—'श्रीमद् राजचंद्र' में से उद्धृत)

तीव्र ताप बरसात इच्छती है व बादल जलरूप परिणम जाते हैं—ऐसे घनिष्ट सम्बंध (निमित्त–नैमित्तिक) जगत् में हैं; परंतु इनके अस्थिर स्वभाव को जानकर, ज्ञानी इन्हें नहीं इच्छते; निमित्त–नैमित्तिकस्वभाव के अभावरूप सहज नित्य निरिच्छिक स्वभाव को ही इच्छते हैं और यह ही योग्य भी है ।.....

सहज ज्ञानामृतरस इच्छुक
निहालचंद्र

❀

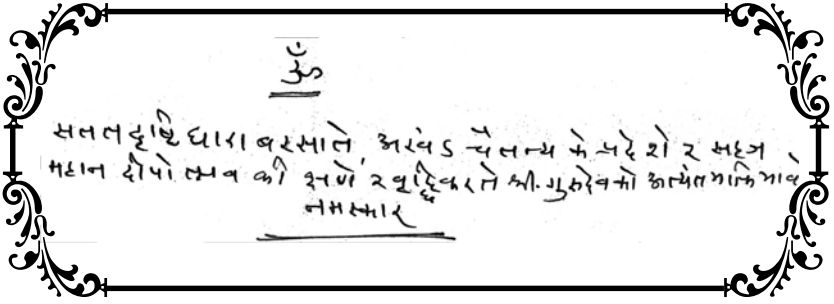

८

कलकत्ता
२८-६-१९५३

धर्मप्रेमी.....निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

कार्ड आपका लगभग पंद्रह दिवस पहले मिला था, मैं कार्यवश राँची गया हुआ था, अतः जवाब में विलम्ब हुआ ।

आशा है परम कृपालु गुरुदेव सुख–शांति में विराजते होंगे व आप लोग निरंतर उनकी अमृतमयी वाणी का लाभ लेते होंगे । यहाँ तो पुण्य-योग ही ऐसा नहीं है कि, वहाँ का लाभ शीघ्र–शीघ्र मिला करे । निवृत्ति के लिए जितना अधिक छटपटाता हूँ, उतना- ही अधिक इससे दूर-सा रहता हूँ, ऐसा योग अबके हो रहा है । कई बार तो फूट–फूट कर रोना-सा आ जाता है । शायद ही कोई दिवस ऐसा निकलता है कि , बारम्बार वहाँ का स्मरण नहीं आता होवे । किसी ने कहा है कि :

"मिलत एक दारुण दुःख देई ।
विछुडत एक प्राण हर लेई ॥"

सो संयोगों की अपेक्षा यहाँ तो ऐसे ही ऐसे संग में रहना पड़ रहा है जहाँ कि, दारुण दुःख का अनुभव हुआ करे ।

परम कृपालु गुरुदेव कहते है कि, ऐसे दुःख–सुख भावों को पूर्णरूप से, एकाकाररूप से जीव को नहीं भोगना चाहिए । सम्यक् एकांतरूप से स्वरूपदृष्टि के बल से सहज-ही, अंशे–अंशे, जीव इनसे क्षणे–क्षणे सरकता रहे, भिन्न पड़ता रहे व ऐसी दृष्टि का अभ्यास निरंतर बढ़ता रहे, यह ही भावना है ।...

धर्मस्नेही : निहालचंद्र

९

कलकत्ता

५-७-१९५३

धर्मप्रेमी..... से निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

कार्ड आपका मिला । पूर्व पत्र कुछ चिंतित दशा के समय लिखा गया था, अतः शायद आपको कुछ ख़याल-सा हुआ दिखता है ।

जिस सामान्य ध्रुव स्वभाव में चिंता व अचिंता—दोनों ही पर्याय का अभाव है, उसके आश्रय पश्चात् बेचारी अल्प चिंता की स्थिति ही कितनी ?

पूज्य गुरुदेवश्री की अनुभवरस से भीगी हुई वाणी वहाँ 'कर्ताकर्म अधिकार' की वर्षा कर रही है—अहा ! आपकी इस हार्दिक भावना का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ कि, मैं भी आप सबों के संग इस वर्षा में स्नान करूँ ।

अरे विकल्प ! यदि तुझे तेरी आयु प्रिय है, तो अन्य सब को गौण कर व गुरुदेव के संग में ले चल, वरना उनका दिया हुआ वीतरागी अस्त्र शीघ्र ही तेरा अंत कर डालेगा ।

स्वसंग, गुरुसंग व मुमुक्षुसंग के अलावा दूसरे संग को नहीं इच्छते हुए भी, अरे प्रारब्ध ! विष-तुल्य संग में रहना पड रहा है, खेद है ।

पूर्ण चेष्टा है, शीघ्र योग मिलते ही वहाँ आऊँ; परंतु अभी कोई नज़दीक समय दिखाई नहीं देता है, फिर-भी प्रयत्न पूरा है ।

सबों को यथायोग्य ।

धर्मस्नेही : निहालचंद्र

१०

कालिम्पोंग (दार्जिलिंग)
२४-८-१९५३

ॐ

"ऐसे मुनिवर देखे वन में, जाके राग-द्वेष नहीं मन में"

आत्मार्थी.....

मैं कलकत्ता से एक माह लगभग हुआ बाहर गया था, परंतु खेद है सोनगढ़ आने का सौभाग्य नहीं हो सका। ....

दीवाली के पास तक आना हो सकेगा, ऐसी आशा है। परसों यहाँ से कलकत्ता जाऊँगा।....

वहाँ परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव परम सुख-शांति में विराजते होंगे; हृदय में उनको नमन करता हूँ।

"अपनी सुधि भूल आप, आप दुःख उपायौ।
ज्यौं शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायौ॥"

"मन वच तन करि शुद्ध भजो जिन दाव भला पाया।
अवसर मिले नहीं फिर ऐसा, यों सत्गुरु गाया।"

"धन धन साधर्मीजन मिलन की घरी।
बरसत भ्रमताप हरन, ज्ञान घन झरी॥"

वहाँ सर्व मुमुक्षुमण्डली श्री गुरुदेव की धर्मामृत-वाणी-पान में मग्न है; विचार आते-ही, दूर रहने रूप दुर्भाग्य का खेद होता है।

"चिद्राय गुन सुनो प्रशस्त गुरु गिरा।
समस्त तज विभाव, हो स्वकीय में थिरा॥"

"कुगुरु, कुदेव, कुश्रुत सेये मैं, तुम मत हृदय धर्यो ना।
परम विराग ज्ञानमय तुम, जाने विन काज सर्यो ना॥"

"हे जिन! मेरी ऐसी बुद्धि कीजे।
राग-द्वेष दावानलतें बचि, समता रस में भीजे॥"

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

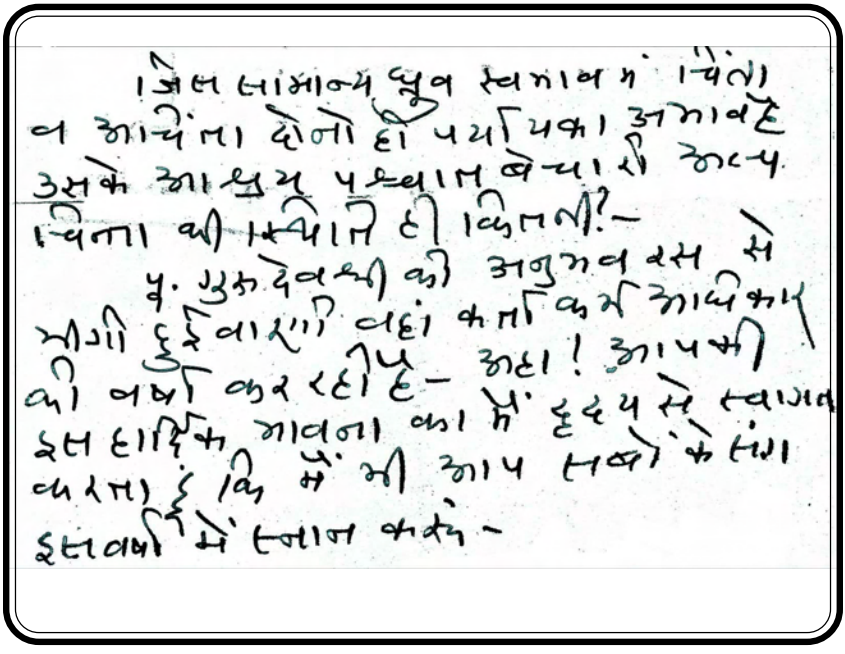

११

कलकत्ता

१०-११-१९५३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

पवित्र आत्मार्थी

आप दोनों का लिखा हुआ कार्ड कल रात्रि मिला। सोनगढ़ का पत्र देखते मात्र ही हृदय कैसा डोल उठता है, व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। वहाँ की स्मृतियों बिना कोई दिवस नहीं गुज़रता। आपके अंतरंग को भली प्रकार समझता हूँ, फिर-भी पत्रादिक की प्रवृत्ति में मन संकुचित-सा रहता है, अतः उत्साहवर्द्धक पत्र नहीं लिखा जा सका था।

कुछ समय से यहाँ के दिगम्बर जैन मंदिरजी में रात्रि को एक घण्टे मुमुक्षु भाईयों के साथ शास्त्रस्वाध्याय होता है। पूज्य श्री गुरुदेव की शारीरिक अस्वस्थता व स्वस्थता के समाचार समय-समय पर उन भाईयों के पास वहाँ के पत्रादिक आते थे उनसे मालूम होते रहते थे। परम-परम हर्ष है कि : परम अद्भुत, जीवन-उद्धारक, जन्म-मरणरूपी रोग से रहित करनेवाले योगीराज श्री सद्गुरुदेव का स्वास्थ्य अब बिल्कुल ठीक है। अनादि-अनंत आयु के धारक चैतन्य गुरुदेव की देह भी दीर्घायु होवे, ऐसी भावना है।

बाह्यप्रवृत्ति व संयोगों से इच्छा (राग) का माप नहीं होता व इच्छा से निरीच्छुक सूक्ष्म अभेदवृत्ति का माप नहीं होता। इच्छा होते हुए भी पुण्य-योग बिना क्षेत्रांतर नहीं होता। वहाँ आने-जाने

आदि के वायदे निश्चय निहालभाई के नहीं समझो। निश्चय निहालभाई तो अनादि से कहीं आए-गए ही नहीं, न अब अनंतकाल कहीं आने-जानेवाले ही हैं। न कभी किसी को वायदा किया ही था न करनेवाले ही हैं। वायदे व आने-जाने आदि का कार्य सब जडाश्रित जड का ही है, चेतन निहालभाई का नहीं। चेतन ने तो इस ही के कहलाए जानेवाले राग से भी कभी निमित्तरूप सम्बंध तक नहीं किया, तो अन्य क्रियाओं व वायदों में तो इसका सम्बंध देखना वृथा है। हे प्रभो! सर्व जीव सर्व सम्बंधों से रहित मात्र सामान्य चेतन में ही अपने अस्तित्व की दृष्टि करें व लिखने, पढ़ने, आने, जाने, वायदे करने-कराने आदि सर्व पागलपन की क्रियाओं को उपचारिक निमित्तपने भी क्षय कर देंवे, यह ही भावना है।

जड निहालभाई को अब भी सोनगढ़ पहुँचने में करीब २० दिवस और लगें, ऐसी आशा है। कलकत्ते से एक हफ़्ते में क्षेत्रांतर होने के आसार हैं।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

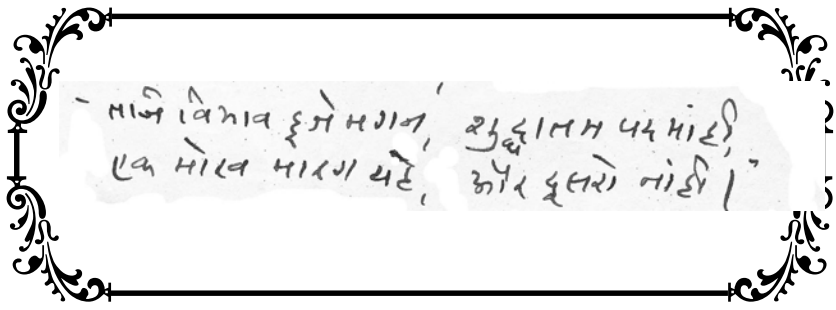

१२

कलकत्ता
२-१-१९५४

ॐ

आत्मार्थी.....

आशा है परम कृपालु उपकारी श्री गुरुदेव सुख–शांति में विराजते होंगे। 'निर्जरा अधिकार' व श्री 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' का आठवाँ अध्याय बहुत सरस चल रहा होगा।

पत्र आपका मिला, समाचार निगह किए।.....आप लोगों का विहार-समय का प्रोग्राम जाना। जैसा अनुकूल योग होगा, गिरनार-यात्रा आदि के समय का मेल मिलाने की चेष्टा करूँगा। परंतु अब योग होना कुछ कठिन-सा दिखाई पड़ता है।

आप लोगों को व्यक्त करने में असमर्थ हूँ कि, वहाँ के लिए मुझे कितनी उत्सुकता रहती है। महाराजश्री के विहार पहले उनके प्रवचन, साक्षात् दर्शन आदि का लाभ न होना हीन पुण्य का सूचक है।

समय पर वहाँ नहीं पहुँच सकने के विषय पर आपकी परेशानी जानी। आपके वाचक शब्दों से वाच्य भाव का अनुमान होता है। मोक्षार्थी अपने क्षणिक अल्पकालीन भावों का मूल्य नहीं आँकते।

सबों को यथायोग्य।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

१३

अजमेर

१७-१-१९५४

आत्मार्थी....धर्मस्नेह ।

आपका पत्र मिला । समाचार निगह किए । इस समय सोनगढ़ का वातावरण विहार की अद्भुत उमंगों से भरा हुआ होगा । सर्वश्रेष्ठ नेता सहित मोक्षमण्डली स्थान-स्थान पर विजय का स्तम्भ रोपने जा रही है, यह विचार हृदय को ख़ूब उल्लसित करता है । दुर्भाग्यवश मुझे ऐसे अवसर पर वहाँ नहीं रहने का खेद है । आशा है गुरुदेवश्री का आत्मस्वास्थ्य व शारीरिक स्वास्थ्य निरंतर वृद्धिगत होंगे ।

आपने व्यावसायिक, यहाँ की मेरी परिस्थिति बाबत पूछा, सो इस विषय को आपको लिखने का विचार नहीं होता है । हमारी नीवँ तो मुक्तिरस के विचारों पर पड़ी है । दूसरे विचारों में आपको रस आवे, यह मुझे अच्छा नहीं लगता । अभी कार्यवश पत्र बंद करता हूँ । आपका प्रोग्राम लिखते रहना ।

स्वस्थान को मुख्य रख कर ही परस्थानों के क्षणिक विकल्पों का सहज ज्ञान होता रहे, यह ही इच्छा है ।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र

१४

कलकत्ता
१-२-१९५४

धर्मप्रेमी.....निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

आशा है कल दिन मुक्तिदूत श्री सद्गुरुदेव व मुमुक्षुगण राजकोट सकुशल पहुँच गए होंगे । लोक में अलौकिक क्रांति फैल रही होगी ।

आपका पत्र मिला । मांगलिक विहार के आदि व अंत स्थान गुरुदेवश्री की जन्मभूमि 'उमराला' का चित्रित दैनिक अंक भी मिला । यहाँ इस भक्तिभावपूर्ण अंक को मुमुक्षुओं के बीच बाँचने का शुभयोग भी मिला । सबों ने हृदय से रसास्वादन किया ।

रह–रह कर विकल्प होता रहता है कि, कम से कम एक–दो वर्ष निरंतर अलौकिक सत्पुरुष के सहवास में रहना होवे, परंतु प्रारब्ध अभी ऐसा नहीं दिखता है । विहार में जूनागढ़ आदि का योग शायद नहीं है ।

मुझे व्यावहारिक अनुकूलता रहा करे, ऐसी आपकी सद्भावनाओं को मैं भलीभाँति समझता हूँ; कारण अबके आपके अधिक नज़दीक में रह चुका हूँ व आपके प्रति के मेरे विकल्प इसके साक्षी होते रहते हैं । फिर-भी ऐसी भावनाओं को मुख्यदृष्टि स्वीकार नहीं करती, सहज-ही निषेध वर्तता जाता है । भावना एक समय की व उस ही समय 'हम' इससे अधिक । स्वाभाविक न होने से एक–दूसरे के आश्रित, विचित्रता धरती हुई राग–द्वेष में परिणत हो जाए या वीतरागता में, ऐसा स्वभाव है; राग भी नित्य नहीं रहता ।

अहो ! बिना विकल्प का कोरा आनंद ही आनंद ! त्रिकाली

गुब्बारे को पूर्ण फुलाये बिना (विकसित किए बिना) अब एक क्षण भी चैन नहीं है। ध्यानस्थ अवस्था में बैठा हुआ, अथाह ज्ञानसमुद्र व उसमें सहज केलि! ऐसा अनुभव मानो 'मैं ही मैं हूँ,' आनंद की घूँट पिये जा रहा हूँ! अरे...रे! वृत्ति आनंद से च्युत होने लगी...पर वाह रे पुरुषार्थ! तूने साथ रही उग्रता का संकल्प किया, मानो अथाह की थाह सदैव के लिए एकबार में ही पूरी ले लेगा, प्रदेश–प्रदेश व्यक्त कर देगा, सहज आनंद से एक क्षण भी नहीं हटने देगा। पर अरे योग्यता! तूने पूर्णता के संकल्प का साथ न देकर अंतमें च्युत करा ही तो दिया, तो फिर इसका दण्ड भी भुगताना पड़ेगा।

बहिनों की सद्भावनाएँ देखकर उनकी इच्छानुसार अपनी व्यावहारिक अनुकूलता आदि का समाधान भी करना होगा। संक्षेप में बात यह है कि : आर्थिक स्थिति पहले से साधारणतया अच्छी है। सोनगढ़ समय पर पहुँचने के वास्ते यहाँ से रवाना होने हेतु टिकट आदि का प्रबंध हो गया था, देहली आदि तार भी दिए थे। हमारे यहाँ का मुनीम एक होशियार व्यक्ति है, परंतु पैसे के कार्य में कच्चा है। रवाना होने की पहली रात मालूम हुआ कि : पाँच–चार जगह से उगाही की रकम लेकर चुपचाप निजीकार्य में उसने ख़र्च कर दी है। स्थिति को क़ाबू में करने का विकल्प हो गया। रुकना हो गया। दूसरा बंदोबस्त जल्द नहीं बैठ सका व मेरी अनुपस्थिति में सब रकम साफ़ न हो जाए, ऐसा विकल्प उठ खड़ा हुआ। गृहस्थभूमिका है, शिथिल योग्यता की विजय हो गई, रुकना हो गया; बस! इतनी-ही बात है, अतः लिखना ठीक नहीं समझा था; और भी सहकारी कारणों ने रुकने में ही सहायता दे दी।

विहार के व राजकोट के कोई विशेष महाराजश्री के उद्गार

लिखना। व कोई महत्त्वपूर्ण घटना होवे तो लिखना..... आप सब को सहजानंद की प्राप्ति होवे, यह ही इच्छा है।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

आपने लिखा कि : शांति से पत्र लिखने की फुर्सत नहीं है क्या? अभी शांति है, यह बताने हेतु समाप्त किए बाद भी लिखने का विकल्प हुआ है।

पर्याय एक ओर से प्रवेश करती हुई दिखती है; दूसरी ओर से रमती हुई दिखती है; तीसरी ओर से उघड़ती हुई दिखती है। वस्तु विचित्र है!

दीपक की लौ बुझने के पहले समय अधिक प्रकाशित होती है। सहजानंद से च्युत होनेवाला पुरुषार्थ निर्बल होने के पहले समय अधिक उग्र होता है। द्रव्य तो सहज पुरुषार्थ का पिण्ड है, उसकी दृष्टि में सहज-ही च्युति नहीं होती।

"जीव के परिणमन की अति विचित्रता देखो रे ज्ञानी!"

❀

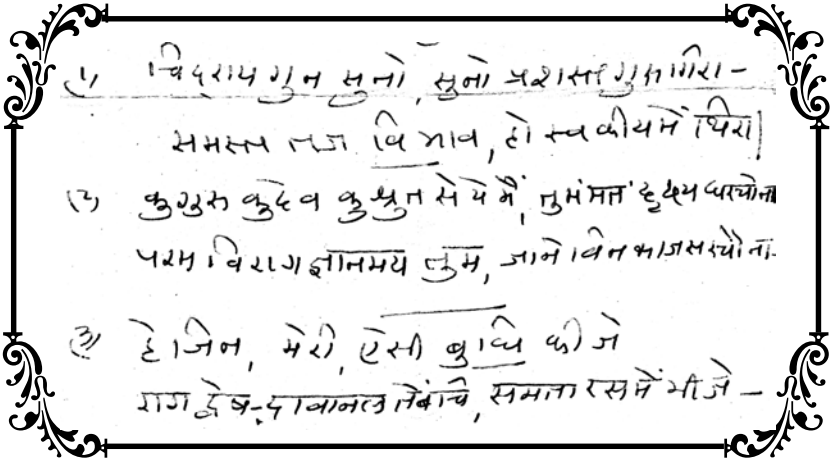

१५

कलकत्ता
२५-६-१९५४

ॐ

पूज्य गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

पत्र पहले भी आपके मिले थे व एक अब भी कलकत्ता में मिला । मैं करीब दो माह से कलकत्ता से बाहर था, अतः जवाब आदि नहीं दिया जा सका था । क्या बताऊँ, हृदय को पूर्णतया व्यक्त नहीं किया जा सकता है । यहाँ भी तीव्र भावनाएँ थी कि, पूज्य गुरुदेव के विहार में अवश्य साथ होऊँ । कुछ दिनों अजमेर रहना हुआ, वहाँ से उमराला का प्रोग्राम...था, परंतु वह भी पूर्ण नहीं हो सका । यहाँ से गए पश्चात् २०–२५ दिन शारीरिक अस्वस्थ्यता के कारण देर अधिक हो गई थी, अतः मिलवालों के तार–टेलिफोन बहुत आने से, अत्यंत खेद है कि, पूज्य परमोपकारी गुरुदेव के दर्शन बिना ही कलकत्ता वापस लौटना पड़ा । अब इस हालत में उधर जल्दी आने का प्रोग्राम फ़िलहाल नज़र नहीं आता है । पुण्य-योग नहीं है, वहाँ का संयोग नहीं है, अरुचिकर वातावरण का योग है । महान् अफ़सोस है । आपकी बारम्बार की भावनाओं को, मुझे वहाँ बुलाने को, मैं भलीभाँति समझ सकता हूँ; मेरा भी हृदय वहाँ के लिए अब आतुर है । काफ़ी समय हो गया है । पूज्य गुरुदेव की व सोनगढ़ के वातावरण की स्मृतियाँ बारम्बार उत्साह को बढ़ाती रहती हैं । पापबंध ढीले पड़ते हैं, पुण्यबंध वृद्धि पाते हैं, विवेक में है; पर इन सब से क्या? अहो गुरुदेव! आपने तो इन (पुण्य–पाप)

दोनों से ही निराली वृत्ति दिखा दी है, जो कि इनके होते हुए भी विचलित नहीं होती, खूँटे (ध्रुव) के सहारे से डिगती नहीं है, उसे द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का प्रतिबंध नहीं है। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि, जो कुछ लाभ है, सो तो यह वृत्ति ही है, अनंत सुखों के पिण्ड के साथ रहती है, फिर चिंता काहे की? यह तो स्वयम् स्वभाव से ही चिंता रहित है, निश्चिंतवृत्ति में चिंतितवृत्ति का तो अत्यंत अभाव है। हे भगवान्! आपकी यह वाणी मस्तिष्क में नित्य घूमती रहे, यह ही भावना है। अधिक फिर।....

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

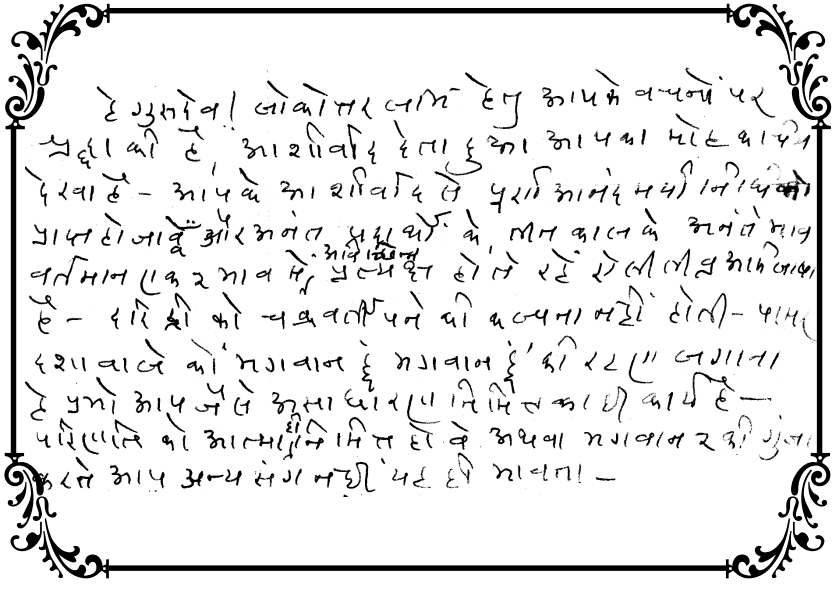

१६

कलकत्ता

२७-६-१९५४

ॐ

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

पत्र एक पहले दिया, सो पहुँचा होगा । आशा है पूज्य परम उपकारी सद्गुरुदेव सुख–शांति में विराजते होंगे व श्रोतागणों को अमृतरस में स्नान करने की प्रेरणा मिलती होगी ।.....

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

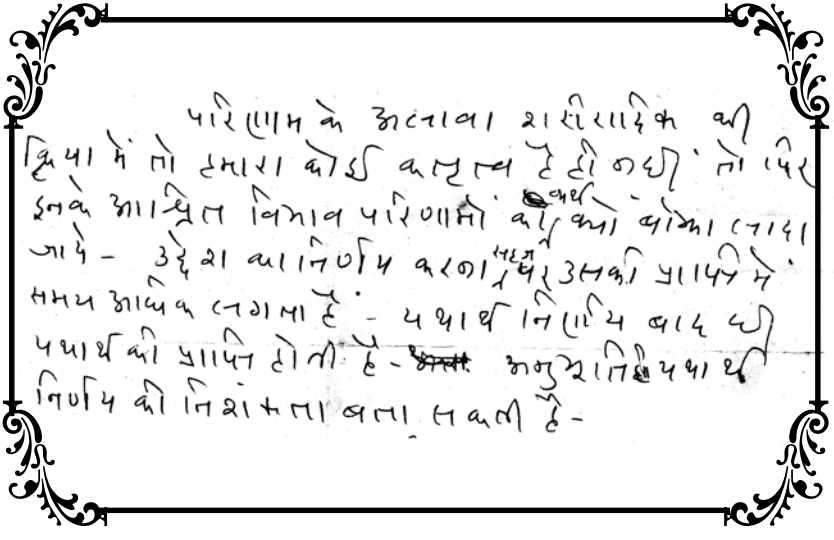

१७

कलकत्ता
२५-७-१९५४

ॐ

श्री कहानगुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....निहालचन्द्र का धर्मस्नेह।

आशा है पूज्य गुरुदेव सुख–शांति में विराजते होंगे। मुमुक्षुमण्डल प्रतिक्षण आत्माश्रित सुख की वृद्धि में रत होवो!

आपका पत्र यथासमय मिला था। मेरा अजमेर में तो लगभग १५–२० दिवस ही रहना हुआ था। आपने लिखा कि ''विकल्पनुं कांईक कार्य आव्युं नहीं।'' सो हमारा तो सिद्धांत भी यही ही है कि : विकल्प के अनुकूल कार्य होवे ही, यह आवश्यक नहीं है; विकल्प विकल्प में, कार्य कार्य में।

मोक्षमार्गी को कुटुम्बीजनों मध्ये सुख मिलता होवे, यह कल्पना ही ग़लत है।

''जाल-सौ जग-विलास, भाल-सौ भुवन वास,
काल-सौ कुटुम्ब-काज, लोक-लाज लार-सी।''

—श्री बनारसीदासजी

उसे तो निरंतर आत्मरमणता चाहिए। अरे! जिसे धार्मिक जनों के संग भी नहीं रुचते, उसे कुटुम्ब-संग तो रुच ही कैसे सकता है? अरे! विकल्पाश्रित पदार्थ से भी लाभ नहीं, साथ-ही विकल्प से भी लाभ नहीं।

आपने लिखा कि ''निमित्त–नैमित्तिकसम्बंध ऐवो छे के तीव्र

भावना होय तो पापनो उदय पलटीने पुण्यनो उदय थई जाय।'' विकल्पानुसार पदार्थ की प्राप्ति होना पुण्य नहीं है, वरन् तीव्रता पलटकर मंदता होना पुण्य है। अतः राग छूटने अथवा कम होने में सुख है, पदार्थ के मिलने में नहीं। अतः आत्माश्रित राग की मंदता होवे, यह ही भावना है।

गुरुदेव कहते हैं : ''इच्छामां सावधानपणुं ज्ञानीने नथी, पोताना स्वभावनुं सावधानपणुं चूकीने परपदार्थमां सावधानपणुं ज्ञानी करतो नथी''—ज्ञानीने इच्छानी इच्छा नथी।''

प्रदेशे-प्रदेशे मैं मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनंद ही आनन्द से ओतप्रोत वस्तु हूँ। स्वरूपरचना पर्याय में स्वतः ही हुए जा रही है। इच्छा तोडूँ, स्वरूप की वृद्धि करूँ आदि विकल्पों का जिस सहज स्वभाव में सहज-ही अभाव है। अरे! सहज शुद्धपर्याय का भी जिस त्रिकाली ध्रुव वस्तु में सहज-ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मैं हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ—ऐसी दृष्टि एकबार अवश्य-अवश्य हो जाओ—बस! सुखसमुद्र का दरिया एकदम सहज उमड़ पड़ेगा। पर के लिए विकल्प करना बेकार है। अरे! मैं बिना किसी के ही अभी-ही परिपूर्ण हूँ, एकबार ऐसी तीव्र भावना होनी चाहिए, ताकि सामान्य वस्तु के बोध का अवसर आए। पर में सावधानीपणा नहीं, स्व में सावधानीपणा होना चाहिए।

अरे द्रव्यसामान्य! तेरे प्रताप से झुकती हुई पर्याय भी सहज खड़ी हो जाती है; अनादि का बोझा प्रतिक्षण हटता जाता है; उत्तरोत्तर सुख की वृद्धि होती जाती है...धन्य है तेरा बोध! गुरुदेव कहते हैं :

''ज्ञानीने ज्यां स्वरूपनिधान प्रगट्युं, त्यां पर्यायमां (शरीर में नहीं, परिणाम में) जुवानी आवी जाय छे, निर्भयता अने निःशंकता

थई जाय छे । क्षणे–क्षणे अबंध स्वरूप प्रगट थतुं जाय छे । वर्तमान पुण्यभाव थाय अने ऐनुं फल हजो, ऐवी वांछा ज्ञानीने नथी ।''

कीचड़ में धँसने पर भय वृद्धि पामता जाता है परंतु चैतन्य में धँसने पर निर्भयता वृद्धि पामती जाती है।

मैं चैतन्य चैतन्य में ही चलता हूँ; जड जड में; विभाव विभाव में; मुझ नित्य में मेरी पर्याय (परिणाम) का भी प्रवेश नहीं है, अन्य की बात ही क्या ? अरे ! परिणाम परिणमता है और उस ही समय मैं अपरिणामी हूँ ।

अरे भगवान् कारणपरमात्मा । तेरे दर्शन होते ही विभाव की पीठ दिखने लगती है। तेरा यथार्थ भान हुए बिना पूर्व में परिणामाश्रित परिणामों का इतना तीव्र बंध कर चुका था कि, उनकी अवधि ख़तम होने के लिए तेरे दर्शन स्वाभाविक होने ही थे ।

अरे चैतन्य ! तेरी इतनी पहोलाई !! विस्मित-सा कर देती है !

हे गुरुदेव ! आप कितनी पहोला तक प्रसर चुके हो !! पहोलाई भी है साथ-ही ठोसपना भी !

हे गुरुदेव ! आपकी वाणी का स्पर्श होते ही मानो विश्व की उत्तमोत्तम वस्तु की प्राप्ति हो गई । क्या मैं मुक्त होनेवाला हूँ ! अरे ! शास्त्रों में जिस मुक्ति की इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्र ने इतना सरल कर दिया !! क्या विश्व में अब और-भी कुछ चाहना बाक़ी रह गई ?

अरे ! निरीच्छक वस्तु ...रागरहित अतीन्द्रियआनंद का अपूर्व स्वाद...अपूर्व सहज ज्ञानकला !

गुरुदेव कहते हैं : ''मारुं ज्ञानतत्त्व ज मने गमे छे । गमे ते क्षेत्र होय पण पोताना ज्ञानमां ज व्यापीने रहेवुं छे। ज्ञानी

पुण्य–पाप (विकारीभाव), शरीर के निमित्तमां अवगाहन करतो नथी, पण पोताना ज्ञानस्वरूपी गगनमण्डलमां ज व्यापे छे.''— देखी, गुरुदेव की ज्ञानानंद-मस्ती !!

गुरुदेव की कथनशैली तो देखो! कहते हैं कि : ''अशुद्धता रोकाई जाय छे ऐटले के अशुद्धता प्रगट ज थती नथी, तेने अशुद्धताने रोकतो, एम कहेवाय छे।''

अभानदशा में चैतन्यगाँठ कर्मों के संग में कभी इधर लुढ़कती है व कभी उधर; परंतु भानदशा में ऐसा बोध होता है कि 'अरे! परिणाम परिणम गया और 'मैं' यूँ का यूँ ही रह गया—ऐसा 'मैं' त्रिकाली नित्य–ध्रुव अद्भुत रत्न हूँ!'

गुरुदेव के चरणों में रत मुक्तिमण्डली में मेरे उत्तरकाल के स्थान का निश्चित भान है, पर अरे! यह तो जड-पद है, मेरा तो चैतन्य-पद है।

''निज कल्पनाथी कोटि शास्त्रो, मात्र मननो आमलो,
गुरुवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सांभलो।''

अनुभव लेखनी में व्यक्त नहीं हो सकता।

सबों को धर्मस्नेह।

—निहालचंद्र

❀

१८

कलकत्ता

९-९-१९५५

आत्मार्थी..... धर्मस्नेह ।

पत्र एक आज दिन आपने किसी के मार्फ़त भिजवाया था, सो मिला है, पहले भी अजमेर में मिला था । कई कारणों से जवाब लिखने की वृत्ति रुक गई, व अब-भी पत्रादिक लिखने को मन नहीं करता है । हमारी तरफ़ के आपको विकल्प होते हैं; परंतु विकल्पों में तो जागृति सदा हेय होनी चाहिए, चाहे वह साक्षात् तीर्थंकर के प्रति ही क्यों न होवे । निज द्रव्य में अस्तित्व का निरंतर श्रद्धान व सहज अनुभव रहने से, सहज-ही विकल्प टूटने लग जाते हैं व सहज निर्विकल्प स्वाद आने लगता है, जिसके आस्वादन किए बाद विकल्पों का रस सहज-ही ठण्डा पडने लग जाता है ।

हमारा तो मन निज चैतन्यबिम्ब के अलावा अब कहीं नहीं जाना चाहता । लौकिक दृष्टि से हमारा एक–डेढ़ वर्ष से अधिक का समय तीव्र असाता की दशाओं में रहा, अतः इस कारण से भी पत्रादिक की वृत्ति ओछी रही ।

हमारी तो यह ही इच्छा है कि : आपके विकल्प भी और कहीं इधर–उधर न जाकर अपनी निज चैतन्यप्रतिमा को घडने लग जाएँ, तो वस्तु का आश्रय होते-ही अपूर्वता प्रगट होवे व हमारी तरफ़ के निरर्थक विकल्पों का अंत हो जाए ।

हमारा पत्र आदि न मिले, तो कोई ख़याल नहीं करना चाहिए । हमारी वहाँ आने की जिज्ञासा काफ़ी है, अभी योग्यता नहीं है, आने पर स्पष्ट कर सकेंगे ।

श्री गुरुदेव का प्रसाद दैनिक यहाँ आता है । उनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक होगा ।....

धर्मस्नेही : निहालचंद्र

१९

कलकत्ता

२३-३-१९५६

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

कलकत्ते से एक भाई वहाँ गए थे, उन्होंने आपके समाचार कहे थे । विद्वत्परिषद पर वहाँ पहुँचने का निश्चय किया था, वह भी कुछ-ही समय अर्थात् एक हफ़्ते तक वहाँ ठहरने का, सो प्रोग्राम बदलने से फिर रुकना हो गया । कुछ योग ही ऐसा है, पूर्व कर्म भी ऐसे हैं कि, उत्कृष्ट संयोग से वंचित रहना पड़ रहा है । सर्व प्रथम सोनगढ़ गया था तब-ही तीव्र भावना थी कि, वहाँ कोई मकान का प्रबंध कर निरंतर गुरुदेव के चरणों में लाभ उठाऊँ; परंतु योग ऐसा है कि, अबके तो बरसों से भी दर्शन नहीं हो सके । इस माह में तो वहाँ की बारम्बार स्मृतियाँ प्रबलतर होती जा रही हैं व परिषद पर पहुँचने का योग भी नहीं बना, गोया मुझे परिषद से अधिक प्रेम नहीं था फिर-भी सुयोग समझ कर समय चुना था । ऐसी हालत में पत्र लिखने का विचार हुआ, सो लिखा जा रहा है ।

जिस आत्मद्रव्य में परिणाम मात्र का अभाव है, उसमें जम गया हूँ । परिणमन सहज, जैसा होता है, होने दो; हे गुरुदेव! आपके इन वचनों ने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है । चँचलता व निश्चलता तो परिणाम में है, मैं नित्य हूँ, मेरे में नहीं, यह अनुभव अपूर्व है । परिणाम क्षण–क्षण निराकुलता की वृद्धि पामते हैं । ‘‘तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो, गुरुआज्ञाअे थाशुं ते

ज स्वरूप जो।'' सम्यक्पुरुषार्थ से या तो पुण्य-योग होकर, अनुकूलता प्राप्त होकर, राग टूटे अथवा पुण्य के अभाव में वीतरागता बढ़ कर राग टूटे;—राग टूटना निश्चित है; क्योंकि श्रद्धा ने राग–अरागरहित स्वभाव का आश्रय लिया है व वीर्य की क्षण–क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होने से ज्ञान–आनंदमयी अरागीपरिणाम ही वृद्धिगत होंगे, यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

अभी रात्रि के आठ बजे हैं, मंदिरजी जाने का समय है अतः बंद करता हूँ।

सब को धर्मस्नेह।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

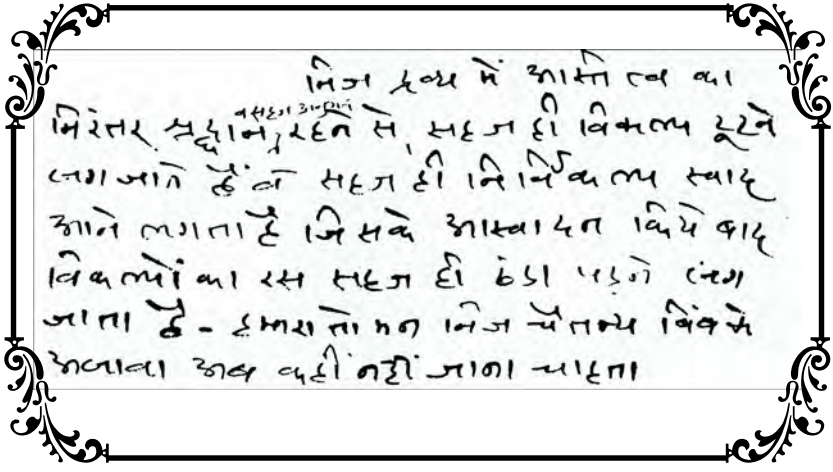

२०

कलकत्ता
४-९-१९५६

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....धर्मस्नेह ।

कार्ड मिला । परम पूज्य महान्योगी श्री गुरुदेव के चरणों में सादर प्रणाम । आशा है गुरुदेवश्री सुख–शांति में विराजते होंगे व आप पुण्यवान् जीव उनकी साक्षात् अमृतवाणी से पूर्ण तृप्त हो रहे होंगे ।

लम्बे काल से, हीनयोग से, मुझे तो प्रत्यक्ष गुरु-दर्शन का अभाव रहा है । शिखरजी की यात्रा पर, अथवा कलकत्ते के प्रोग्राम पर पुण्योदय से साक्षात् दर्शन का लाभ होनेवाला है, यह जानकर बहुत प्रसन्नता है ।

भादवा सुदी ५ को बहिनें आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेंगी, यह प्रसंग बहुत सुखप्रद होगा । शांताबहिन का आज कार्ड मिला, मालूम हुआ, अचरजबहिन की बच्चियाँ भी प्रतिज्ञा लेंगी, बहुत हर्ष का विषय है; मैं इस अवसर पर जैसा कि बहिन नें शरीक होने को लिखा है, वहाँ नहीं आ सकूँगा, इसका मुझे खेद है; बहिन से मेरी असमर्थता सूचित कर देना । प्रसंग के प्रति मेरी हार्दिक अनुमोदना है ।

बहिनें सोचती होंगी, निहालभाई ने न पत्र दिया है, न आना ही हुआ है, कहीं सुमार्ग से हटना तो नहीं हो गया है, कारण अशुभयोगों में तो प्रवृत्ति है व शुभ से उदासीनता दिखती है । मेरे

प्रति अनुराग है न, अतः आपको कहकर कार्ड डलवाया होगा।

विकल्पात्मक वृत्तियों का तो सहज-ही अनुमान कर लिया जाता है, परंतु निर्विकल्पता का माप तो बाह्य से नहीं किया जा सकता; यह तो स्वयम् के समाधान का विषय है।

बहिनों का व आपका मेरे प्रति वात्सल्यवत् अनुराग है व मेरा भी आप लोगों के प्रति; यह एक मार्ग में चलनेवालों का सहज सम्बंध है।

एकाकार गोले में प्रविष्ट दृष्टि से वृत्तियों में फेरफार नहीं किया जा सकता; जड पत्रादिक की बात तो दूर। हाँ, इस दृष्टि से यथार्थ ध्येय व मार्ग की निःशंकता अवश्य है, अनुभवगम्य है। शक्ति की निरंतर पकड़ अथवा एकता से अथवा 'शक्तिमयी ही हूँ' इस अनुभव से वृत्तियों के सहज फेरफार का प्रत्यक्ष समाधान होता है; व गुरुदेव की वाणी का साक्षात् अर्थ समझ में आता है, जिसका फल वृद्धिगत होते हुए सुख की पूर्णता है।

अशुभ में सहज खेद, शुभ में कुछ उत्साह, सहज-ही होता है; पर इन दोनों में अथवा शुद्धता में भी फेरफार करने से कोई प्रयोजन नहीं। 'मात्र पिण्ड हूँ, वृत्ति नहीं', गुरुदेव के इन्हीं वचनों को हृदय में उतार लिया है।

शेष फिर।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

२१

कलकत्ता
२९-६-१९५९

आत्मार्थी.....प्रत्ये निहालचंद्र का धर्मस्नेह ।

आपका कार्ड अजमेर से भिजवाया हुआ मुझे यहाँ मिला । मैं करीब १५ दिन से कलकत्ता ही हूँ । व्यापार सम्बंधी कार्य से आया हुआ हूँ ।

श्रीगुरुदेव को मेरा अत्यंत भक्तिपूर्वक नमस्कार कहना और सर्व भाईयों को धर्मस्नेह । मुझे अत्यंत खेद होता है कि, मेरा बजाय वहाँ (सोनगढ़) रहने के इधर–उधर ही रहना हो रहा है । अभी करीब १५ दिवस और यहाँ ही हूँ और शायद अधिकतर यहाँ ही रहना होगा । चौमासे में एक माह के करीब वहाँ रहने की अवश्य पूर्ण भावना है ।

'स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा' की प्रतियाँ, मैं अजमेर जाने से भेजने में समर्थ हो सकूँगा । यहाँ कलकत्ता में सोनगढ़ से सम्बंधित कौन भाई रहा करते हैं, यदि हो सके तो पता भेजना । और यहाँ योग्य कार्य लिखना ।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र सोगानी

❀

* कारणपरमात्मा ही यथार्थतया मोक्षमार्ग का हेतु है । —पूज्य गुरुदेवश्री

२२

कलकत्ता
२०-७-१९६१

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....

पूज्य गुरुदेवश्री सुख-शांति में विराजते होंगे। साधर्मीजन समवसरण जैसे वातावरण में उनकी दिव्यध्वनि जैसी अमृतवाणी का लाभ लेकर अनंत सुख प्राप्त करें, यह ही भावना है।

आपका पत्र ता. १५-७ का मिला। इसके पहले तो कोई नहीं मिला था। हीन पुण्य-योग होने से, सोनगढ़ प्रति के विकल्प की प्रधानता नहीं होने से अभी तक मैं उधर नहीं आ सका, इसका अत्यंत खेद है। गए तीन माह से कुछ ऐसे योग हुए : प्रथम मेरे पिताश्री का स्वर्गवास होना, द्वयम् एक माह पहले मेरे स्वयम् के शरीर के छूटने जैसा योग हो गया था। कुछ व्यक्तियों ने मेरे पास एक बैग देखकर, उसमें रकम नहीं होते हुए भी रकम के भ्रम से मेरे पेट में ९ इंच गहरा खँजर मार दिया। डॉक्टरों को इजीली (शीघ्र) पल्स (Pulse) तक हाथ नहीं आई थी। ऑपरेशन आदि होकर अस्पताल में रहना पड़ा। आज ही घर से बाहर इस एक्सीडेंट के बाद पहले-पहले निकल रहा हूँ।

"किस प्रकार आत्मा अपनी ओर पुरुषार्थ की वृद्धि करने का प्रयोग करता है?" आपके इस प्रश्न पर मेरा तो इतना-ही लिखना है कि : प्रथम की यथार्थ श्रद्धा-समय, श्रद्धा की पर्याय का अखण्ड की ओर जो झुकाव अथवा लीनता का पुरुषार्थ होता

है उसमें काल-भेद नहीं है व यथार्थ श्रद्धा में जो पुरुषार्थ का प्रयोग है, बारम्बार उस ही प्रयोग की वृद्धि होती रहती है, उसे वृद्धि का पुरुषार्थ कहते हैं। पहले के व बाद के पुरुषार्थ के प्रकार में कोई प्रकार का फ़र्क़ नहीं है। इस-ही लिए गुरुदेवश्री का यथार्थ समझण पर बारम्बार ज़ोर रहता है; कारण इस प्रथम समझण में ही भविष्य का सम्यक् पुरुषार्थ गर्भित है।

अखण्ड ज्ञानघन पुरुषाकार (देहाकार) शरीर, कर्म, भावकर्म व शुद्धपर्याय से भी ऊँडा चैतन्यतत्त्व 'मैं' हूँ, यह ही मेरा अस्तित्व है, शुद्धपर्याय का अस्तित्व भी इसमें गौण है;—ऐसी प्रथम यथार्थ श्रद्धा जब-ही कही जाती है कि, ऐसी श्रद्धा के प्रसार के साथ-ही लीनता का प्रथम आत्मानुभव होता है। लीनता का पुरुषार्थ अथवा इसमें वृद्धि—यह सब पर्याय के कार्य हैं। मेरापना, मेरा अस्तित्वपना अथवा व्यापकपना तो केवल त्रिकाली ज्ञानघन अखण्ड चैतन्य में है,—इस दृष्टि में पर्याय का पुरुषार्थ सहज स्वभाव है। पर्याय-अपेक्षा पुरुषार्थ हुआ, वृद्धि हुई, उसे पुरुषार्थ किया अथवा वृद्धि करी—ऐसा कहते है। यथार्थ में तो उक्त अस्तित्वपने की अखण्ड दृष्टि के बल पर पर्यायों का क्रम सहज-ही अखण्ड की ओर बढ़ता रहता है। पुरुषार्थ आदि की इन पर्यायों में कोई उलटफेर (अधिक व कम पुरुषार्थ आदि का) करना नहीं पड़ता; कारण कि पर्याय में तो मेरा—दृष्टि के विषय का—अस्तित्व ही नहीं है कि 'मैं' उसमें कुछ कर सकूँ। मेरा अस्तित्व तो त्रिकालीपन में है।

आशा है मेरा दृष्टिकोण मैं व्यक्त कर सका हूँ।.....

धर्मस्नेही

निहालचंद्र सोगानी

२३

कलकत्ता
१३-८-१९६१

ॐ

श्री गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही.....

आपका व.... का पत्र मिला था। मेरे सोनगढ़ आकर श्री गुरुदेव की वाणी का लाभ लेने वास्ते लिखा, सो जाना। मैं शायद सितम्बर के अंत में वहाँ आ सकूँगा, इसके पहले आना होता नहीं दिखाई देता।

मुझे आपके पहले के पत्र नहीं मिले थे, कारण समझ में नहीं आया।

आशा है गुरुदेवश्री सुख-साता में विराजते होंगे।....

आपका
निहालचंद्र सोगानी

❀

* (द्रव्य) द्रव्यदृष्टि से निष्क्रिय है, पर्यायदृष्टि से सक्रिय है।
* एक ओर ज्ञानसिंधु है व दूसरी ओर भवसिंधु है- जहाँ रुचे वहाँ जा।

—पूज्य गुरुदेवश्री

२४

कलकत्ता

१९-१०-१९६१

ॐ

चैतन्यमूर्ति श्री गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी..... धर्मस्नेह।

आपका वात्सल्ययुक्त पत्र यथासमय मिला। भरतखण्ड का अलौकिक 'कर्ता–कर्म अधिकार', आत्मरस से ओतप्रोत वक्ता, साधक मुमुक्षुगण श्रोता, जिनालय की सामूहिक भक्ति, निरंतर अमृतवाणी से संस्कारित–तृप्त भूमिस्थान आदि समवसरण-से दृश्य पुण्यहीन को नहीं सम्भवते, अतः वियोग है। लाभ प्राप्त करने की तीव्र प्रतीक्षा है।

पूज्य गुरुदेव कहते हैं : ''बहुमान आदि के शुभराग की महिमा नहीं आकर, उत्कृष्ट चिदानंदस्वभाव की अनुपम महिमा के दृढ़ निर्णय का पराक्रम होने पर अंतर्स्वभाव में वलण होता है।''

स्वरूप-सीमा को उल्लंघन किए हुए पूर्व उदय, अखण्ड स्वरूप संस्थान में दौड़ लगाते हुए, सीमा-स्पर्श के पूर्व-ही भयभीत होकर निराश्रय, लड़खड़ाकर गिरने लगते हैं। क्रमः क्रमः पूर्णता होने की, सुख–शांति के अनुभवपूर्वक निःशंकता वृद्धि पामती है।

बलवान् का सब साथ देते हैं। साधक के अखण्ड बल के जागृत होते ही, अचेतन पुद्गलादि भी अखण्ड स्वरूपाकार वर्तकर सहायक (व्यवहारे) होने लगते हैं।

पत्रोत्तर मिलना, नहीं मिलना, विलम्ब होना आदि सब विस्मृत

करने योग्य हैं। ज्ञानानंदस्वभाव की अनुभूति में भंग पड़नेपर लिखने आदि के विकल्प होते हैं सो सब स्वरूप से निकलते ही प्रत्यक्ष उन्मत्त–पागलपन की जडदशास्वरूप अनुभवाते हैं। जड से जड के सम्बोधनों में चेतन को कोई लाभ नहीं।

वर्तमान समय में (पर्याय में) पूर्व–उत्तर काल की पर्याय का ज्ञान विद्यमान है तब स्मरण, मन का बोझा उठाना व्यर्थ है।

शुभयोग में भी थकान अनुभव करनेवाले जीव के लौकिकयोग की तीव्र दुःखदशा पर....हे करुणासिंधु! करुणा करो.....करुणा करो, यह ही विनती।

पर्याय ही पर्याय का कर्ता है, त्रिकाली अंश अथवा आखा द्रव्य नहीं, यह 'कर्ता–कर्म' की चरम सीमा है। अतः पर्याय में आखा एकाकार होना योग्य नहीं।

सबों को यथायोग्य।

—निरंतर समाधि इच्छुक

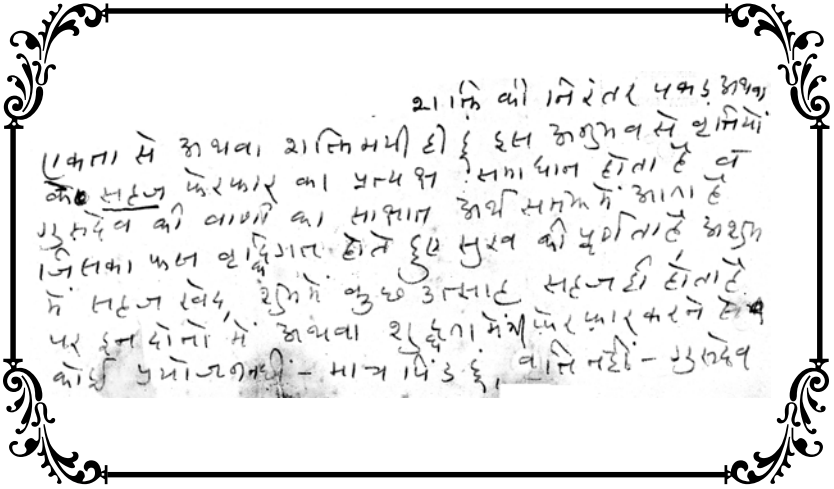

ESTD. 1932.

SOGANI & SONS

STOCKISTS & COMMISSION AGENTS.

TELEPHONE : 33-2510 P.P.
TELEGRAM : "SOGANS"

4/1A, GANPAT BAGLA ROAD,
Calcutta-7, 1-11 1961.

Ref. No.

ॐ

सतत दृष्टि धारा बरसाते, अखंड चैतन्य के प्रदेश से सहस्र महान दीपोत्सव की क्षणें स्वयं करते श्री. गुरुदेव को अत्यंत भक्तिभाव नमस्कार

धर्मानुरागी

Selling Agents :

SHREE RAM SILK MFG. CO.
CALCUTTA.
(Bangur Brothers Ltd.)

THE MODEL MILLS
NAGPUR LTD.
NAGPUR.

VINAR PRIVATE LTD.
CALCUTTA.

पत्र यथासमय मिला। मेरे प्रति के अनुरागसे, बारंबार आप लोगों को मुझे वहां बुलाने का विकल्प होता है परन्तु पू. गुरुदेव के सान्निध्य दीपावली अवसर पर मुझे लोभ संवरण नहीं है – आंख की परेशानी का समय कम हो गया है सो पूरा स्वस्थ है –

श्री. दीपचंदजी आदि वहां आये हुए हैं व मेरे संबंध में कुछ बात भी हुई होगी सो जानता

आध्यात्मिक क्या लिखूं – श्रीमद् बनारसीदासजी के पद दोहरा रहा हूं "मैं त्रिकाल करनी सो न्यारा, चिद्विलास पद जगा उजियारा। रागादिरोध मोह मम नाहीं, मेरो अवलंबन मुझ मांही।" – मानि विभाव दुःखमगन, शुद्धातम पद मांही। एक मोक्ष मारग यहै, और दूसरो नांही।"

आप सबों को यथायोग्य –

आपका
निरंजन नाथाभाई

२५

कलकत्ता
१-११-१९६१

ॐ

सतत दृष्टिधारा बरसाते, अखण्ड चैतन्य के प्रदेश-प्रदेश सहज महान् दीपोत्सव की क्षणे-क्षणे वृद्धि करते श्री गुरुदेव को अत्यंत भक्तिभावे नमस्कार !

धर्मानुरागी.....

पत्र यथासमय मिला । मेरे प्रति के अनुराग से, बारम्बार आप लोगों को मुझे वहाँ बुलाने का विकल्प होता है । परंतु पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य का, दीपावली के अवसर पर, मुझे लाभ सम्भव नहीं है । आँख के ऑपरेशन का समय कम रह गया है सो पूरा-पूरा ख़याल में है ।

...अधिक क्या लिखूँ ? श्री बनारसीदासजी के पद दोहरा देता हूँ :

''मैं त्रिकाली करनीसौं न्यारा, चिद्विलास पद जग उजयारा ।
राग विरोध मोह मम नांही, मेरौ अवलम्बन मुझ मांही ॥''

''तजि विभाव हूजे मगन, सुद्धातम पद मांहि ।
एक मोख-मारग यहै, और दूसरौ नांहि ॥''

आप सबों को जय जिनेन्द्र ।

आपका
निरीच्छुक मोक्षाभिलाषी

❀

२६

कलकत्ता
१६-१२-१९६१

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....धर्मस्नेह ।

लगभग बीस दिवस से रागांश में विशेष खेद-खिन्नता वर्त रही है, ऐसे समय आपका पत्र मिलने से प्रसन्नता हुई । वहाँ से आए पश्चात् एक-डेढ़ माह तक सोनगढ़ की विशेष ख़ुमारी रही, अभी तो उसका शतांश भी नहीं है ।

व्यावसायिक स्थिति में कई प्रकार के परिवर्तन हो जाने से, अब चलें, अब चलें, सोचते हुए भी वहाँ आने का प्रोग्राम नहीं बन सका । गुरुदेवश्री की आँख के ऑपरेशन के ता. २४ बाबत के समाचार 'सुवर्णसंदेश' में भी पढ़े थे । परंतु पुण्य-योग के अभाव में उनके साक्षात् दर्शन व वाणी का लाभ कैसे मिले? व्यवहार से व ख़ास तौर से अशुभयोग से पूर्ण निवृत्ति चाहते हुए भी, गृहस्थ आदि व्यावसायिक जँजालों का ऐसा उदय है कि, मन नहीं लगे वहाँ लगाना पड़ रहा है, बोलना नहीं चाहते उनसे बोलना पड़ता है, ऐसी योग्यता है ।

हे गुरुदेव! लोकोत्तर लाभ हेतु आपके वचनों पर श्रद्धा की है, आशीर्वाद देता हुआ आपका मोहक चित्र देखा है । आपके आशीर्वाद से पूर्ण आनंदमयी निधि को प्राप्त हो जाऊँ और अनंत पदार्थों के तीनकाल के अनंते भाव वर्तमान एक-एक भाव से अविच्छिन्न प्रत्यक्ष होते रहें—ऐसी तीव्र अभिलाषा है ।

दरिद्री को चक्रवर्तीपने की कल्पना नहीं होती। पामरदशावाले को 'भगवान् हूँ.....भगवान् हूँ' की रटन लगाना, हे प्रभो! आप जैसे असाधारण निमित्त का ही कार्य है। परिणति को आत्मा ही निमित्त होवे अथवा भगवान्.....भगवान् की गुँजार करते आप; अन्य संग नहीं;—यह ही भावना।

मेरा यहाँ रहने का अथवा बाहर जाने का प्रोग्राम तो सदैव की तरह अनिश्चित-सा ही समझो।

अशुभयोग में कँटाला हुआ
—चेतन

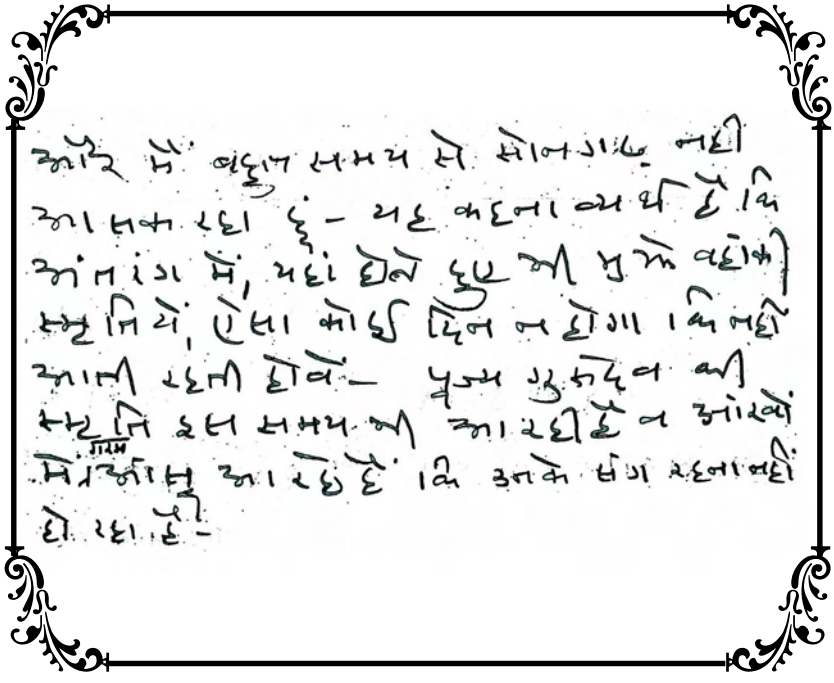

२७

कलकत्ता
९-४-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही.....शुद्धात्म सत्कार ।

आपका कार्ड व पत्र मिले । मानस्तम्भ के शुभ प्रसंगपर भी मैं वहाँ नहीं आ सकूँगा, इसका कारण पत्र के साथ भेजी गई शादी की पत्रिका से मालूम होगा । बड़े पुत्र की शादी ता. १६-४ की है; पुण्यवानों को शुभप्रसंग का योग है, उन्हें अशुभप्रसंगपर बुलाना ठीक नहीं है, फिर-भी लौकिक व्यवहारवश दो पत्रिकाएँ भिजवाई हैं । वहाँ से आए पश्चात् परिणति कीचड़ में ही फँसी रहती है, जैसी योग्यता है वैसे-ही निमित्तों मध्ये रहना हो रहा है । प्रत्यक्ष दुःखसमूह में वेदन चलता है, परंतु एक-ही झटके में हटना नहीं होता है । रस बिलकुल नहीं है, खेद वर्तता है । फिर-भी इधर से निवृत्तियोग नहीं बैठता; यह भी पूर्व कर्मों की देन ही है । अखण्ड की अखण्डता का प्रयास भी शिथिल-सा ही रहता है । हे गुरुदेव ! आपमें तीव्र भक्ति का उदय होने से ही इधर के दुःख का इलाज होगा, दूसरा कोई इलाज नहीं, यह भलीभाँति जानता हूँ ।

अधिक क्या लिखूँ ? सोनगढ़ की दया का पात्र हूँ । आपके उलाहने सुनने योग्य हूँ । करीब एक माह से कुछ शारीरिक अस्वस्थ्यता भी चल रही है ।

हे प्रभो ! शीघ्र इधर से निवृत्ति होकर गुरु-चरणों में रहना होवे, जिन्होंने अखण्ड गुरुवास में चरना सिखाया है, यह ही विनती ।

आप सब से क्षमा का इच्छुक व आपकी वात्सल्यता का आभारी ।

—निहालभाई

२८

कलकत्ता

१४-७-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....धर्मस्नेह ।

पत्र आपका मिला, इससे पहले एक पत्र यहाँ लग्न के समय मिला था, जिसका जवाब भी दिया था । इस मध्ये तो कोई पत्र मिला नहीं । हर पत्र में मेरे वहाँ आने के लिए स्वाभाविक रागवश आपका अनुरोध रहता है व न आनेके लिए बहुत प्रकार का उलाहना व उपदेश भी । मेरे परिणामों की स्थिति समय-समय की लिखी तो नहीं जा सकती; इतना-ही कह सकता हूँ कि, बिना रस के भी परिस्थितिवश लाचारी से ही इधर के अशुभउपयोगों में रहना होता है । मेरी भूमिका में अशुभउपयोग की ही अधिकता है, स्थिरता के प्रयत्न-समय भी। अधिक क्या लिखूँ ?

ध्रुव आत्मा तो परिणामों में भी किंचित् उथल-पुथल नहीं कर सकता । ध्रुव में श्रद्धा की यथार्थ व्यापकता का यह नियम श्री गुरुदेव ने बताया है, वह सही है, समझ में भी है ।

राग को इधर करो, उधर करो आदि तो परिणामों पर अस्तित्व समझनेवालों के लिए मुख्यतः अपेक्षाओं के कथन हैं ।

परिणाम शुभ हैं, अशुभ हैं, इनमें कितना पुरुषार्थ भी सहज लग जाता है आदि ध्रुव की एकतासहित के ज्ञान में आता रहता है । श्रद्धा की अखण्ड एकता के साथ-ही चारित्र की अखण्डता

भी ध्रुव के साथ हो जाए, यह ही लक्ष्य है; व यथार्थ श्रद्धा के साथ ऐसा-ही होगा, यह ही नियम है। इसके हुए बिना, मात्र ऐसा हुए बिना, जीव को चैन नहीं।

अन्य तरफ़ के राग में निरंतर रस नहीं, चाहे क्षणिक रस दिखाई भी दे। शुभनिमित्तों के संग में अधिक मंदकषायादि होने से स्थिरता भी अधिक व शीघ्र होती रहती है, यह भी ज्ञान में है; परंतु मुख्य संग तो निर्बाध–अपराधीन चेतन का ही है, अन्य संग तो उदयाधीन हैं। अधिक लिखने में सार नहीं।

उधर आने के विकल्प भी बहुबार उठते हैं, पर अधिक ज़ोर नहीं खाते। आपके पत्रों के मात्र उधर आने बाबत लिखे होने का, अतः क्या जवाब दूँ? मेरी ऐसी स्थिति में आप वहाँ के रोज़ाना या हफ़्ते के ख़ास–ख़ास गुरुदेवश्री के न्याय आदि लिखो, तो अधिक प्रिय लगेंगे। आना तो होगा जब होगा, शायद जल्दी आ भी जाऊँ, ऐसा योग भी दिखता तो है।

सब बहिनों को व शशीभाई को धर्मस्नेह।

—आत्मार्थी

❀

जिनवर और जीव में अंतर नहीं।
—पूज्य गुरुदेवश्री

२९

कलकत्ता
३-९-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी..... धर्मस्नेह ।

आपका पत्र पहले भी मिला था व शशीभाई का एक और भी । आपने लिखा था कि ''अब निवृत्ति काल पका'', यह पढ़कर बिजली के वेग की तरह आनंद की लहर आई थी; कारण पूर्वे निवृत्ति ही विकल्परूप से निश्चये भजी थी, ऐसा पूरा प्रतीति में आता है । अब तो श्री गुरुदेव की कृपा से न निवृत्त हूँ, न प्रवृत्त हूँ, ऐसा निश्चय हो चुका है व पूर्व के निवृत्तपरिणामों ने अतः अब निश्चय के बजाय व्यवहार का पद ले रखा है । समय लगभग २० दिन पहले आया भी था, बम्बई तक जाना भी हुआ था, सोनगढ़ पहुँचने के विकल्प भी अधिक हुए थे मगर इधर-ही लौटना पड़ा, ऐसे कारण हो गए थे । अब दशहरे के बाद उधर आना हो सकेगा ।

आप लोग साक्षात् चैतन्यमूर्ति गुरुदेव के सान्निध्य में दशलक्षणी पर्व के अवसर पर अति उत्साहपूर्वक धर्मलाभ लेंगे; मुझ जैसे पुण्यहीन को यह लाभ कहाँ ?.....

अधिक क्या लिखूँ ? विकल्पों को तो धधकती हुई भट्टी के योगों का निमित्त है व इस मध्ये ही रहना हो रहा है, जबकि चैतन्यमूर्ति विकल्पों को छूनेवाली भी नहीं है; अधूरी दशा के विकल्पांशों में श्रद्धा में जमी हुई इस मूर्ति का एकरस आलिंगन कहाँ ? चैतन्यमूर्ति के एकरस में ओतप्रोत रहें, यह ही भावना ।

धर्मस्नेही : निहालचंद्र

३०

कलकत्ता
८-११-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....शुद्धात्म सत्कार ।

वात्सल्यानुराग प्रेरित आपका पत्र, कुटुम्बियों का दीपावली-कार्ड मिला ।...ज्ञानानंदी गढ़, वीतरागप्रधानी गुरुदेव की प्रशस्त-रागअंश-निमित्तक सिंहगर्जनाओं से ४७ नयों पर पुण्यवान् मुमुक्षुओं को उल्लासित प्रवचनों का लाभ हुआ, जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई । पुण्य-अभाव-योग से इस अवसर से मुझे वंचित होना पडा, इसका खेद रहा । श्री गुरुदेव के प्रवचनों का मुख्य सार मैंने यह लिया है :

वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ । वर्तमान से ही देवादिक पर अथवा उन-आश्रित राग से किंचित्मात्र लाभ का कारण नहीं; लाभ मानना ही अलाभ है ।

वेदन के अलावा अन्य कोई क्रिया जीव की नहीं । शरीर-आश्रित अथवा पर-आश्रित आकुलितवेदन को, समकाले ज्ञान-वेदन द्वारा, गौण करते–करते नाश करना मुमुक्षुओं का ध्येय है । यह ज्ञान-वेदन अखण्ड त्रिकाली अपरिणामी ध्रुव अस्तित्वमयी स्व-पने के अनुभव में सहज-ही उदय होता है । राग से भेद करता (ज्ञान) निःशंकित निराकुल सुख-वेदन के साथ प्रत्यक्ष प्रमाणरूप प्रगट होता है, वृद्धि पामता–पामता अनंत सुख व ज्ञान का लाभ करता है । अप्रसिद्ध–अवेदक–मुख्य–अखण्ड स्वभाव में श्रद्धा के

ESTD. 1932.

SOGANI & SONS

STOCKISTS & COMMISSION AGENTS.

TELEPHONE : 33-2510 P.P.
TELEGRAM : "SOGANS"

4/1A, GANPAT BAGLA ROAD,
Calcutta-7,

Ref. No.

8. 11. 1962.

ॐ

श्री गुरुदेवाय नमः

आत्मा धर्म बंधुओं से

शुभाशीर्वाद। आपका दीपावली कार्ड तथा स्नेह पत्र मिला - तत्सम्बन्धी आगे क्या लिखूं - उत्कृष्ट पुण्य योगसे ज्ञान आनंद की खान अपूर्व सत्संयोग श्री गुरुदेव निमित्त रूपे आपके समीप है। जिनकी निरंतर धवल वाणी के उनकी ओरसे लक्ष हटाकर स्वकी अंतरंग खान का लक्ष कराता है जहांसे यथार्थ न्याय सुख आदि प्रगटते रहते हैं। अतः स्वआत्मास्तित्वमयी त्रिकाली आत्मा में पसर कर सुखास्वादन करो। जिस स्वाद के वशीभूत देवादिक प्रत्येक भी दासीवत होने लगती है - इनमें अनंत परमें एकांत रस बजागृति होना स्वभाव के आश्रय पूर्वक ही सूचक है - वर्तमान में ही मैं परिपूर्ण सुख का भंडार हूं वर्तमान में ही देवादिक से अथवा इस आसुत राज से किंचित लाभ नहीं - लाभ मानना ही स्व का अपराध है - यह न्याय तीर की तरह बाह्य वृत्ति प्रेरित असर करे तो वर्तमान में ही स्वभावोन्मुख प्रयत्न होवे

नागरदासभाई, उमेदभाई का दीपावली कार्ड मिला था, उन्हें शांतिभाई को मांजी, लक्ष्मीबेन, लक्ष्मीबेन, इच्छाबेन आदि को धर्मस्नेह कहें -

शुभाशीर्वाद सहित
नि. भंवर

Selling Agents :

SHREE RAM SILK MFG. CO.
CALCUTTA.
(Bangur Brothers Ltd.)

THE MODEL MILLS
NAGPUR LTD.
NAGPUR.

VINAR PRIVATE LTD.
CALCUTTA.

स्व-अस्तित्वरूप में प्रसरते ही प्रसिद्ध वेदन गौण होकर एक ही काल त्रिकाली व वर्तमान दोनों भावों का अनुभव होता है।—यह ही भेदज्ञान है। राग से पृथक् ज्ञान का अनुभव ऐसे ही होता है, अन्यथा नहीं।

योग होने से **April** में श्री गुरुदेव की जन्म-तिथि पर मिलना होगा।

शुद्धात्मस्नेही
निहालचंद्र

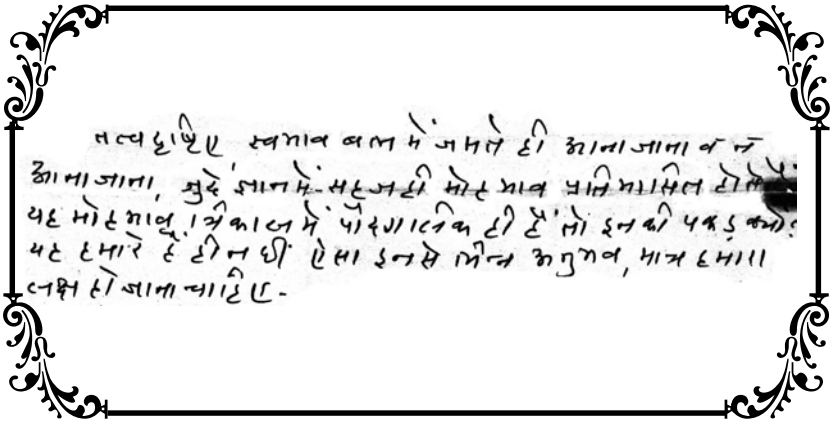

३१

कलकत्ता

८-११-१९६२

ॐ

श्री गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....शुद्धात्म सत्कार ।

आपका दीपावली-कार्ड, तत्पश्चात् पत्र मिला । समझ में नहीं आता क्या लिखूँ ? उत्कृष्ट पुण्य-योग से, ज्ञान–आनंद की खान अपूर्व सत्पुरुष श्री गुरुदेव निमित्तरूपे आपके समीप हैं; जिनकी निरंतर ध्वनि का संकेत उनकी ओर से लक्ष्य हटाकर, स्व की अंतरंग खान का लक्ष्य कराता है । जहाँ से यथार्थ न्याय–सुख आदि उघड़ते रहते हैं । अतः स्वअस्तित्वमयी त्रिकाली आत्मा में पसर कर सुखास्वादन करो । जिस स्वाद के वशीभूत देवादिक प्रत्ये भी उदासीनता होने लगती है । इनमें अर्थात् पर में एकांत रस व जागृति होना स्वभाव के अरसपने का सूचक है । वर्तमान से ही मैं परिपूर्ण सुख का सागर हूँ । वर्तमान में ही देवादिक से अथवा इन-आश्रित राग से किंचित् लाभ नहीं, लाभ मानना ही स्व का अलाभ है ।—यह न्याय तीर की तौर बाह्यवृत्ति-लक्ष्य-प्रति असर करे, तो वर्तमान में ही स्वभावोन्मुख प्रयत्न होवे ।....

शुद्धात्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

३२

कलकत्ता
१५-११-१९६२

ॐ

श्री..... सादर जयजिनेन्द्र ।

आपका ता. १२-११-६२ का पत्र मिला । अन्य लोगों के चरित्रनिर्माण सम्बंधी आपका दृष्टिकोण ख़याल में रखते हुए नीचे स्पष्टीकरण लिखा है :

१. प्रथम तो मैं क्या हूँ व क्या कर सकता हूँ, इसका यथार्थ खुलासा होनेपर कार्य की यथार्थ सीमा बँध सकेगी । मैं आत्मा हूँ व परिणाम का करना और उस-ही परिणाम को भोगना, यह ही मात्र आत्मा की क्रिया है; इसके विपरीत स्वयम् के जड शरीर आदि का व अन्य आत्मा का परिणाम मैं आत्मा नहीं कर सकता, कारण जड के परिणाम का कर्ता जड द्रव्य है व अन्य आत्मा के परिणाम का कर्ता वह आत्मा द्रव्य है । (''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'') ।

२. उक्त प्रकार का यथार्थ निर्णय हुए बाद परपरिणाम के किंचित्-भी कर्तापने का अभिप्राय टूट जाता है । मैं पर का कुछ कर ही नहीं सकता, तब पराश्रितपरिणाम क्यों करूँ, जो कि स्वयम् आकुलतामय ही होते हैं । इन परिणामों को स्व-आश्रित करूँ, तो शुद्ध ज्ञान–आनंद व शांतिमय परिणाम होंगे व इन-ही का भोगना होगा, जो कि वांछनीय है ।

३. स्व में अर्थात् ज्ञान–आनंद आदि गुणों के भण्डार आत्मा में परिणामों को पसारते-ही साधकपना व मुनिपना आदि क्रमपूर्वक

आता है। परिणामों के इस प्रकार के प्रसरण में ही यथार्थ ज्ञान, सुखादि का अनुभव उत्पन्न होने लगता है। जिसकी प्रत्यक्षता से पराश्रित आकुलित परिणाम विषरूप मालूम होने लगते हैं, जो कि सम्यक्दृष्टि साधक व मुनियों को एक समय मात्र के लिए भी नहीं रुचते।

४. उक्त मान्यता व तद्रूप अनुभव होने पर अनादि से चला आया दृष्टि का मोह टूटता है। दृष्टि ने जिस स्व अखण्ड स्व आत्मा को लक्ष्य किया, उसमें एकसाथ परिपूर्ण परिणाम का प्रसरण नहीं होता तब तक परिणाम का कुछ अंश अखण्ड के साथ सुखरूप परिणमता है व उस-ही परिणाम का कुछ अंश उदय के साथ पराश्रित दुःखरूप परिणमता है। साधक व मुनि के इस प्रकार का पराश्रित परिणमा हुआ रागअंश उपदेशादिक का कारण होता है। यह रागअंश चारित्रमोह है, आकुलतामयी है, यह हर समय हेय है, प्रत्यक्ष दुःखरूप है जो कि मुनियों को बिलकुल रुचता नहीं व इसमें इन्हें रस आता नहीं। पुरुषार्थ की निर्बलता से अखण्ड आत्मा की पूरी पकड़ चारित्र-परिणाम में नहीं होने से ऐसा रागअंश होता है, जिसका निषेध प्रतिसमय उनकी दृष्टि करती रहती है। एक समय के लिए भी चारित्रमोहस्वरूपी रागअंश को वह अपना कर्तव्य नहीं समझते जो कि प्रत्यक्ष दुःखरूप है। अतः बारम्बार स्व में स्थित होते हुए, रागअंश को तोड़ते हुए, वह शुद्ध सिद्धरूप हो जाते हैं।

५. मुनियों के रागांशनिमित्तक उपदेश में उक्त आशय का संकेत होता है। अच्छी होनहारवाले जीव के वह निमित्तरूप पड़ता है और वह स्वयम् भी उपदेशादिक की तरफ़ से लक्ष्य हटाता हुआ, उपदेश आदि को मुनियों का कर्तव्य नहीं समझता हुआ, उनकी अस्थिरता का दोष समझता हुआ, उनपर से वृत्ति हटाकर स्वज्ञान

की खान में प्रवेश करने लगता है। अरिहंतों के उपदेश में निमित्त उनका राग नहीं है वरन् कम्पन की अस्थिरता है।

६. राग व वीतरागता दोनों कर्तव्य नहीं हो सकते, कारण दोनों भाव परस्पर विरुद्ध हैं। अतः अन्य के चरित्रनिर्माण के कर्तव्य में वीतरागी कर्तव्य का सहज-ही अभाव है; साथ-ही अन्य के परिणाम का कोई कर्ता हो ही नहीं सकता चाहे मान्यता बनाकर स्वयम् दुःखी होता रहे।

७. एकबार प्रथम सम्यक्त्व तो अधिगमज उपदेश के निमित्त से ही होता है। दूसरे भव में उन संस्कारों के निमित्त से बिना उपदेश सम्यक्त्व प्राप्त करने को नैसर्गिक कहते हैं। परंतु स्वयम् पराश्रित दृष्टि हटाकर, स्वआश्रित परिणाम करे, तो उपदेश को निमित्त कहा जाता है, कर्ता नहीं। जिसकी योग्यता होवे, उसको निमित्त–नैमित्तिकसम्बंध का सहज-ही योग होता है, ऐसा निमित्त–नैमित्तिकसम्बंध अनादि से चला आता है व चलता रहेगा।

आशा है मुनियों के उपदेश सम्बंधी विषय के उपरोक्त स्पष्टीकरण से मेरा दृष्टिकोण आपके लक्ष्य में आएगा। दृष्टिदोष हटे बाद मुनियों को उपदेश का राग उनकी अस्थिरता का दोष है, कर्तव्य नहीं व इस दोष को स्थिरता का प्रयत्न करते–करते वह हटाते जाते हैं, कर्तव्य समझकर रखना नहीं चाहते।

आपका प्रोग्राम लिखें व पत्र देवें।

शुभैषी
निहालचंद्र सोगानी

३३

कलकत्ता
९-१२-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी..... धर्मस्नेह ।

पत्र ता. २२-११ का यथासमय मिला । ''अस्थिरता से देवादिक प्रत्ये के परिणामों में खेद वर्तते व अखण्ड सद्भावरूप परिणमन होते हुए धर्मीजीव की बुद्धिपूर्वक देवादिक प्रत्ये स्वरूप दृढ़ीभूत करने के आशय की प्रवृत्ति मुख्यतौर से होती रहती है, ऐसा दिखता है''— इस पर विशेष स्पष्टीकरण चाहा, सो निम्न है :

१. स्वरूप की दृढ़ता देवादिक प्रत्ये की वृत्ति से निश्चय-ही नहीं होती ।

२. मनआश्रित (विचारपूर्वक) मान्यता से यथार्थ अखण्डआश्रित सहज आंशिक वृत्ति का सद्भाव (उद्भव) नहीं हो सकता ।

३. त्रिकाली अस्तित्वमयी स्व, इस-आश्रित परिणमी हुई आंशिक शुद्धवृत्ति व देवादिक प्रत्ये की आंशिक बाह्यवृत्ति—तीनों अंशों का एक ही समय धर्मी को अनुभव होता है, जिसमें मुख्य–गौण का प्रश्न नहीं ।

४. स्व के माप से अन्य का माप किया जाता है । 'मैं त्रिकाली ही हूँ', इस अनुभव में परिणाम मात्र गौण है, चाहे बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक । ऐसे धर्मी को कभी परिणाम की मुख्यता नहीं होती । अतः उसे अन्य धर्मीजीव में भी परिणाम की मुख्यता नहीं दिखाई देती; जैसे कि मात्र

ESTD. 1932.

SOGANI & SONS

STOCKISTS & COMMISSION AGENTS.

TELEPHONE : 33-2510 P.P.
TELEGRAM : "SOGANS"

4/1A, GANPAT BAGLA ROAD,
Calcutta-7, 9-12-1962.

Ref. No.

आत्मा श्री

धर्मस्नेह। पत्र ता. २२/११ का पढ़ा समाचार जाने।

आत्मा से देवादिक प्रत्ये के परिणामों में रहे वर्तित व अरुचि के सद्भाव स्वरूप परिणमन होते हुए धर्मी जीव बुद्धि पूर्वक देवादिक प्रत्ये स्वस्वरूप दृढ़ीभूत करने के आशय से की प्रवृत्ति मुख्यतोरहे होती रहती है ऐसा विश्वास है" इसपर विशेष स्पष्टीकरण चाहते हैं।

1. स्वस्वरूप को दृढ़ता देवादिक प्रत्ये की वृत्ति से निश्चय ही नहीं होती।
2. मन आसक्ति विचार पूर्वक क्रियान्वयता से अनेक आसक्ति सहज आंशिक वृत्ति का सद्भाव नहीं रह सकता।
3. त्रिकाली आस्ति त्वमयी स्व, इस आश्रित परिणामी हुई आंशिक वृत्ति व देवादिक प्रत्ये की आंशिक बाह्य वृत्ति, तीनों अंशों का एक ही समये धर्मी को अनुभव होता है इस संबंध में कुछ प्रश्न नहीं।
4. स्व के माप से अन्य का माप किया जाता है। में त्रिकाली ही हूं इस अनुभव में परिणाम मात्र गौण है चाहे बुद्धि पूर्वक अथवा बुद्धि पूर्वक - ऐसे धर्मी को परिणाम की मुख्यता नहीं होती अतः उस अल्प धर्मी जीव में भी परिणाम की मुख्यता नहीं दिखाई देती जैसी कि मात्र परिणाम देखने वाले को प्रवृत्ति की मुख्यता दिखती है।
5. धर्मी; अधर्मी के भी त्रिकाली व वर्तमान दोनों को एक साथ देखता है - त्रिकाली का अज्ञान होने से अधर्मी परिणाम मात्र में एकत्व होता रहता है इसका धर्मी को ज्ञान रहता है -
6. त्रिकाली की मुख्यता वाले धर्मी के सहज ही इस आश्रित वृत्ति की ही मुख्यता रहती है, वर्तती है, चाहे बाह्यांशमें भी बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति हो।
7. त्रिकाली तो प्रवृत्ति निवृत्ति स्वरूप परिणाम का ही धनी नहीं है - परिणाम का धनी परिणामी है वह अपेक्षा से अपनी पर्याय में आई हुई [illegible]

Selling Agents :

SHREE RAM SILK MFG. CO.
CALCUTTA.
(Bangur Brothers Ltd.)

THE MODEL MILLS
NAGPUR LTD.
NAGPUR.

VINAR PRIVATE LTD.
CALCUTTA.

परिणाम देखनेवाले को प्रवृत्ति की मुख्यता दिखती है।

५. धर्मी अधर्मी के भी त्रिकाली व वर्तमान दोनों को एकसाथ देखता है। त्रिकाली का अभान होने से अधर्मी को परिणाम मात्र में एकत्व होता है, इसका धर्मी को ज्ञान रहता है।

६. वृत्ति-अपेक्षा त्रिकाली की मुख्यतावाले धर्मी को सहज-ही इस मुख्यआश्रितवृत्ति की ही मुख्यता रहती है, वर्तती है; चाहे बाह्यांश में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति हो।

७. त्रिकाली तो प्रवृत्ति–निवृत्तिरूप परिणाम का ही कर्ता नहीं है। ''परिणाम का कर्ता परिणाम ही है'', यह अपेक्षा भी अपनी चर्चा में आई ही थी।....

धर्मस्नेही
सोगानी

❀

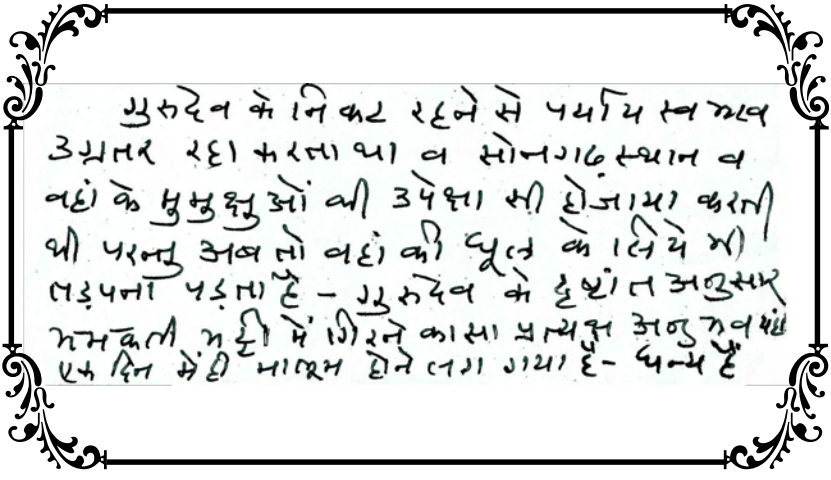

३४

कलकत्ता
३०-१२-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही... शुद्धात्म सत्कार।

आपका ता. २४-१२ का पत्र मिला। आपने वाँचन-विचारणा वास्ते लिखा, सो त्रिकाली अखण्ड ज्ञानानंदस्वभाव में अस्तित्वरूपी श्रद्धा की यथार्थ व्यापकता निरंतर क़ायम रहे, जहाँ के अनुभव में परिणाममात्र के अकर्तापने का सहज अनुभव होता रहे। परिणाम का कर्ता परिणामअंश है, 'मैं' त्रिकालीअंश नहीं। इसप्रकार के एक-ही समय में परिणाम के कर्ता व अकर्तापने के अनुभव की वृद्धि होते-होते पूर्ण ज्ञान का सहज-ही अनुभव होगा, यही वाँचन व विचारणा है।

आशा है आप भी आत्मस्वास्थ्य सहज वृद्धि करते रहेंगे। यहाँ योग्य कार्य लिखें।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

३५

कलकत्ता

२१-१-१९६३

आदरणीय श्री...सादर जयजिनेन्द्र ।

आशा है आप वहाँ कुशल होंगे । कुछ दिनो पहले आपका कार्ड यथासमय मिला था ।... आशा है अध्ययन आदि चल रहा होगा । Retiredlife में पहले के मुक़ाबिले मानसिक बोझा हल्का महसूस करते होंगे । सोनगढ़ की ओर जाने का भी प्रोग्राम कब है ? धार्मिक ग्रंथों में किन-किन ग्रंथों का स्वाध्याय चल रहा है ?

''ज्ञानभण्डार आत्मा में से ज्ञान उघड़ता रहता है, शास्त्रों से नहीं''—यह अलौकिक सिद्धांत विचारणीय है ।

उत्तर क्षण में क्या परिणाम होगा, उसका वर्तमान क्षण में हमें ज्ञान नहीं, तो भविष्य के लिए क्यों व्यर्थ की कल्पना ?

परिणाम के अलावा शरीरादिक की क्रिया में तो हमारा कोई कर्तृत्व है ही नहीं । तो फिर इनके आश्रित विभावपरिणामों का व्यर्थ क्यों बोझा लादा जाए ?

उद्देश्य का निर्णय करना सहज परंतु उसकी प्राप्ति में समय अधिक लगता है । यथार्थ निर्णय के बाद ही यथार्थ की प्राप्ति होती है । अनुभूति ही यथार्थ निर्णय की निःशंकता बता सकती है ।

चूँकि आपका समय अब अध्यात्म की तरफ़ अधिक लगेगा, अतः चंद बातें ऊपर सहज-ही लिखी गई हैं ।

आगे का प्रोग्राम लिखें ।

शुभैषी

निहालचंद्र सोगानी

३६

कलकत्ता
२७-२-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....धर्मस्नेह ।

मालूम होता है कारणवशात् निहालभाई के क्षणिक व्यवहार से विरक्ति हो गई है । विरक्ति तो सदैव उपादेय ही है व सहज विरक्ति मुमुक्षुओं का ध्येय भी है ।

पूज्य गुरुदेवश्री की आँख में 'नीडलींग' की आवश्यकता नहीं रही, जानकर आनंद हुआ । व पूज्यश्री का फाल्गुन सुद-६ से तीन माह वास्ते सौराष्ट्र में विहार होगा, जाना । पुण्य-योग होने से उनके दर्शन, प्रवचन का पुनः लाभ मिल सकेगा ।

आपकी दी हुई 'बनारसी विलास' पुस्तक का वाँचन चल रहा है । लिखा है :

''एक निगोद शरीर में ऐते जीव बखान;
तीन काल के सिद्ध सब एक अंश परिमान ।''

''सो पिण्ड निगोद अनंतरास, जियरूप अनंतानंत भास;
भर रहे लोक नभ में सदीव, ज्यों घड़ा मांहि भर रहै घीव ॥''

केवलीगम्य यह अनंतता साधक के अनुमानगम्य ज्ञान में प्रत्यक्षवत् है । निष्कम्प, गम्भीर ध्रुव स्वभावआश्रये सहज ऊण्डे-ऊण्डे उतरते-उतरते यह ज्ञान हम सब को प्रत्यक्ष होवे, यह ही भावना ।

धर्मस्नेही
निहालभाई

ESTD. 1932.

SOGANI & SONS

STOCKISTS & COMMISSION AGENTS.

TELEPHONE : 33-2510 P.P.
TELEGRAM : "SOGANS"

4/1A, GANPAT BAGLA ROAD,
Calcutta-7,

Ref. No.

27. 2. 1963

ॐ

ॐ. सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी

धर्मस्नेह - मालूम होता है कारणावशात् निहालभाई के सार्वत्रिक व्यवहार से विरक्ति हो गई है। विरक्ति तो सदैव उपादेय ही है व सहज विरक्ति मुमुक्षुओं का ध्येय भी है।

पू. मुक्तेशजी को आंख में मोतीयांजा की आवश्यकता नहीं रही जानकर आनंद हुआ व पूज्यश्री. का कायुल्लु. दृष्टि से लीन माहवा सो सौराष्ट्र में विहार होगा जाना। - पुण्य योग होने से उनके दर्शन, प्रवचन का पुनः लाभ मिलता रहेगा।

आपको दी हुई 'अनारसी विलास' पुस्तक का वांचन चलता है पत्र वांचा है :- "एक निगोद शरीरमें ऐसे जीव कहयां, तीन कालके सिद्धसे अनंतगुणा" "सोपिंड निगोद अनन्तवास, जिम सप्त अनंतानंतगास. मरे रहे लोकमांमें सदीव, ज्यों चढ़ा मांहि मरे रहे घीव"

जो वर्तमान यह अनंतता साधक के अनुभव ज्ञान में प्रत्यक्ष वर्त है। निर्ग्रंथ गंभीर ध्रुव स्वज्ञान आत्मैये सहज अंदर उतरने पर यह ज्ञान दर्शन प्रत्यक्ष होवे यही भावना।

धर्मस्नेहवृद्धि

निहालचंद झाड़ी.

Selling Agents :

SHREE RAM SILK MFG. CO.
CALCUTTA.
(Bangur Brothers Ltd.)

THE MODEL MILLS
NAGPUR LTD.
NAGPUR.

VINAR PRIVATE LTD.
CALCUTTA.

३७

कलकत्ता
११-३-१९६३

श्री.....सादर जयजिनेन्द्र ।

पत्र आपका मिला था ।.....'ज्ञान–ज्ञेयस्वभाव' पुस्तक अच्छी है । अखण्ड त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को ज्ञेय बनाकर, इस-आश्रय एकाग्र हुआ ज्ञानपरिणाम, विभावअंश से भिन्न रहता हुआ, विभाव को परज्ञेय की तरह जानता–देखता है—यह-ही भेदज्ञान है । साधक को एक-ही समय में, एक-ही परिणाम में दोनों प्रकार का भिन्न–भिन्न अनुभव होता है व अनाकुल ज्ञानस्वभाव का आकुलित विभावअंश से पृथक् स्वाद का प्रत्यक्ष अंतर भासित होता है ।....

सोनगढ़ से अभी गुरुदेव राजकोट गए हुए हैं । कम से कम एक माह तक आप उनके नज़दीक रहने का प्रोग्राम बना लेंवे तो अत्यधिक सार्थक होगा ।

शुभैषी
निहालचंद्र

❀

* तेरा स्वदेश भगवान् अनंत गुणों की अद्भुत ऋद्धियों से युक्त है, उसमें एक बार दृष्टि दे!
* जिन्हें आत्मा रुचता है, उनसे आत्मा गुप्त नहीं रहता। —पूज्य गुरुदेवश्री

३८

बंबई
१३-४-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

धर्मस्नेही.....शुद्धात्म सत्कार ।

मैं एक सप्ताह से बम्बई आया हूँ ।

सौराष्ट्र में मेरा फिलहाल जाना नहीं हो सकेगा । अभी तो कलकत्ता ही रहना होता दिखता है । आपका उधर कोई कार्यवश आना होवे, तो मैं आशा करता हूँ मैं अवश्य आपसे मिल सकूँगा । आप आने की सूचना कलकत्ता लिख देवें । यदि मेरा अजमेर, देहली की तरफ़ आना होगा, तो मैं अवश्य आपसे मिलूँगा ।

''बाह्यनिमित्त व निमित्तआश्रित निज भाव से कोई-भी लाभ नहीं होता है''—यह सिद्धांत लक्ष्य में रखकर, निज त्रिकाली अपने स्थित स्वभाव में ही परिणति स्थित होती जावे, ऐसी अनुभूति प्राप्त होना श्रेयस्कर है ।

अभी जल्दी में पत्र बंद करना पड़ रहा है ।

आपके वात्सल्ययुक्त अनुराग भरे पत्र को देखकर कुछ धार्मिक विषय पर भी लिखता, परंतु आज जाने के पहले भी जल्दी है । अतः फिर कभी लिखना हो सकेगा ।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

३९

कलकत्ता
२०-४-१९६३

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार ।

पत्र ता. १७-४ का आपका मिला । अलौकिक पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ आप जोरावरनगर, दहेगाँव आदि जा रहे हैं, जानकर चित्त प्रसन्न हुआ । दहेगाँव के श्री भीखाभाई मुझे मिले । वहाँ पहुँचने वास्ते उनका आग्रह भी था । पुण्य-योग से ही श्री गुरुदेव के सान्निध्य में रहना होता है ।

''निःशंक निर्णय के लिए किस प्रकार रटन, पुरुषार्थ आदि होना चाहिए'' लिखा, सो अपने अस्तित्व की यथार्थ समझ में सब ही बातें गर्भित हैं ।

प्रमाणज्ञान का विषय नित्य व अनित्य अथवा त्रिकाली ध्रुव व क्षणिक परिणामी वस्तु एक-ही साथ 'मैं' हूँ ।—दोनों प्रकार का अनुभव एक-ही समय होनेपर निःशंकता हो जाती है ।

संसारी (अज्ञानी) जीव को कर्तृत्व–भोक्तृत्वरूप मात्र परिणाम के वेदन की प्रसिद्धि है, उस-ही समय त्रिकालीरूप स्व अस्तित्व की नहीं ।

परिणाम में से अस्तित्वपने की श्रद्धा हटाकर, त्रिकाली ज्ञानानंद आदि अनंत गुणों के देहाकार असंख्यातप्रदेशी निजपने में श्रद्धा की पर्याय को एकाकार व्यापक करते-ही नित्यपने का, निज अस्तित्वपने का प्रतिसमय अनुभव होता है ।

'अपरिणामी, नित्य, त्रिकाली, ध्रुव बिम्ब मैं हूँ, क्षणिक

परिणाम नहीं'—यह श्रद्धा का विषय है। श्रद्धा एक-ही समय में पूर्ण त्रिकाली को पकड़कर अभेद हो जाती है। यहाँ अस्तित्व की स्थापना होते-ही 'मैं परिणाम के साथ नहीं परिणमता। परिणाम का कर्ता परिणाम ही है। मैं तो अपरिणामी वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ। वर्तमान से ही मुझे कुछ करना–कराना नहीं है। रटन, पुरुषार्थ, ज्ञान आदि सब परिणाम हैं, इनसे मुझे लाभ–हानि नहीं, मेरी अपेक्षा से यह स्वयम् होते हैं। मैं अविचल हूँ; इन परिणामों से मैं विचलित नहीं होता; इनसे पृथक् व अधिक हूँ; अपेक्षा से मेरे गर्भ में होते हैं; पर मैं इनमें एकमेक नहीं होता।'

दर्पण का त्रिकाली दल एक समय की दर्पणाकार पर्याय से भिन्न ही रहता है। दोनों कार्य एक समय में हैं। यदि दल एक समय के आकार-पर्याय में आ जाए, तो त्रिकालीपने का नाश हो जाता है। अतः त्रिकाली ध्रुव नित्य वस्तु में—अपने अस्तित्वपने में—श्रद्धा की व्यापकता करते-ही सब कार्य सहज स्वभावरूप अनुभव होने लगता है।

वर्तमान से ही मुझे कुछ नहीं करना है, ऐसे 'मैं-पने' की यथार्थ अभेद प्रतीति होते ही चारित्र–पुरुषार्थ आदि के सब परिणाम सहज-ही 'मैं त्रिकाली' का अनुसरण करने लगते हैं व शुद्ध होने लगते हैं।

परिणामों में उलट–फेर करने की दृष्टि असम्यक् है। इस क्रिया से जब ही हट सकते हैं कि, इनसे भिन्न अपरिणामी वस्तु में—निश्चलरूप वस्तु में—निश्चल रहें।

निश्चय स्व-सत् का संग होना ही पूज्य सद्गुरुदेव के संग का फल होना चाहिए।

वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, तो वर्तमान से ही किसी से भी लाभ व नुकशान नहीं है।

धर्मस्नेही : निहालचंद्र

४०

कलकत्ता
४-७-१९६३

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार।

आपके पत्र दहेगाँव व देहली दोनों स्थानों से मिले। मैं करीब एक माह से बाहर था। पंद्रह दिन करीब बम्बई भी रहना हुआ। पुण्य-योग के अभाव से, महाराज साहब का सोनगढ़ लौटने का प्रोग्राम लम्बाने से, सोनगढ़ जाने का सोचा हुआ मेरा प्रोग्राम रुक गया। आप हर पत्र के साथ पते का ख़ाली लिफ़ाफ़ा भिजवाते हो, अब ऐसे नहीं भेजें, पता मैंने नोट कर लिया है। लिखने का विकल्प ओछा होने से जवाब में देर होती है। परंतु लिखना, विकल्प होना क्रियाएँ तो मुमुक्षुओं को हेयबुद्धि से सदैव सहज गौण ही रहती हैं। यह क्रियाएँ तो आचार्यों ने उन्मत्तों की कही हैं।

पत्र बहुत ही विनयभरे आते हैं। विनयभावों का एकांत वेदन नहीं होना चाहिए। सहज सामर्थ्य में पसरने से, स्वरूप के बल से, सहज-ही परिणामों में नहीं घसीटीजेंगे; वह परिणामों का वेदन, ज्ञायकभाव की मुख्यता में हेयबुद्धिए गौण (क्षणे–क्षणे) होता जाएगा। पराश्रित विनयभाव दुःखभाव है, उपादेय कैसे होवे?

द्वादशांग का सार तो श्री गुरुदेव ने फ़रमाया है कि : ''वर्तमान में ही मूल, क़ायमी, त्रिकाली, ध्रुव स्वभाव, परिणामों का विश्रामधाम 'मैं' हूँ। इस स्थान में दृष्टि पसारकर, स्वयम् व्यापक होकर, परिणामों की पकड़ छोड़ दो, इन्हें सहज-ही परिणमने दो, इनमें अटको नहीं। परिणमनस्वभाव के समय ही

अपरिणामीस्वभाव भी साथ ही साथ है। इस अपरिणामीस्वभाव को नित्य पकड़े रहो, यहाँ जमे रहो; इसके बिना निस्तार नहीं है। पत्रादिक का आधार, शास्त्राधार, अरे! प्रत्यक्ष तीर्थंकर की आधारबुद्धि भी स्वयम् वर्तमान सामर्थ्य का अनादर करनेवाली है।''—ऐसा कह कर ही परम कृपालु गुरुदेव ने वर्तमान से ही उनपर से दृष्टि हटाकर, अघट-बढ़ त्रिकाली सदृश्य सामान्यस्वरूप में अपना अड्डा जमाकर निश्चल बिराजने को कहा है। उनके ऐसे सिंहनादरूप उपदेश को पाकर भी फिर दीनता क्यों? वर्तमान में ही अपने सिंह स्वभाव को—अनंत शक्तियों के धाम को—सँभालो! दीन विकल्प निराश्रय होकर टूटते जाएँगे, जड कर्म बिखरते जाएँगे, सुख-शांति का प्रत्यक्ष वेदन क्षणे-क्षणे बढ़ता जाएगा।

बम्बई में नागरभाई आदि मुमुक्षुओं से भी मिलना हुआ था। आपका जिक्र भी आया था।

निरंतर अविच्छिन्न धाराए स्वरूपसुख में मग्न रहो। इससे च्युति करानेवाले विकल्प, विशेष-विशेष मग्नता होते-होते, ढ़ीले पड़ते-पड़ते क्षय हो जाएँगे।—ऐसा ही श्री गुरुदेव का अलौकिक उपदेश जयवंत वर्तो!

धर्मस्नेही
निहालचंद्र सोगानी

ESTD. 1932.

SOGANI & SONS

STOCKISTS & COMMISSION AGENTS.

TELEPHONE : 33-2510 P.P.
TELEGRAM : "SOGANS"

4/1A, GANPAT BAGLA ROAD,
Calcutta-7, 14.7.196 3

Ref. No.

Selling Agents :

SHREE RAM SILK MFG. CO.
CALCUTTA.
(Bangur Brothers Ltd.)

THE MODEL MILLS
NAGPUR LTD.
NAGPUR.

VINAR PRIVATE LTD.
CALCUTTA.

ॐ

श्री सद्गुरु देवाय नमः

आत्मार्थी

शुद्धात्म सत्कार—

गत माह आपका पत्र आया था तब मुझे बंबई में पहुंच रजिस्टर्ड होकर मिला था- इस पहिले करीब जनवरी में पत्र आया था उसका उत्तर बहिनों के पत्र के साथ लिख दिया था- जैसा इस पत्र द्वारा मालूम हुआ उनके यहां अब आपका आनाजाना नहीं है अतः पहिले वाला पत्र आपको नहीं मिला होगा-

तत्व दृष्टि से स्वभाव बल से जन्मते ही आना जाना बंद आनाजाना, मुद्दे ज्ञान में-सहजही मोह भाव प्रतिभासित होने यह मोहभाव त्रिकाल में पौद्गलिक ही है तो इसकी पकड़ को यह हमारे है हीन दीन ऐसा इनसे भिन्न अनुभव, मात्र हमारा लक्ष हो जाना चाहिए-

"भेदज्ञान से प्रगमगो नहीं रही कुछ आस, धर्मदास क्षुल्लक कहे छोड़ो मोह पास"

पू. श्री गुरुदेव के उपदेश का सार, द्वादशांग का सार तो केवल एक ही है कि अपने त्रिकाली स्वभाव में जैसे तैसे भी होवे दृष्टि पसार कर विराजमान होजाओ, क्षणेक पलेक वीतरागी ज्ञायक रस में मग्नता बढ़ती जायेगी। जिसका विच्छेद इस क्षण भी नहीं गमेगा-

योग नहीं होने से महाराज मा. का सोनगढ़ तीर्थ का प्रोग्राम लंबा जाने से बंबई से सोनगढ़ आने का मेरा प्रोग्राम कैंसल गया। पुण्य योग होने पर दशहरे के आसपास आने का विचार है- आप सौभाग्यशाली पू. गुरुदेव श्री की अमृतवाणी का लाभ लेते होंगे. जिसका तात्पर्य उनकी ओर से दृष्टि उठा कर, पलटा कर, निज अभ्यर्थित अमृत स्वभाव में व्याप्त करना है-

शेष मिलने पर-

सर्व संघ के जैसंगदेवजी

तत्त्वज्ञ

४१

कलकत्ता
१४-७-१९६३

ॐ
श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार।

गत माह आपका पत्र आया था, तब मुझे बम्बई में यहाँ से Redirect होकर मिला था। इसके पहले करीब जनवरी में पत्र आया था।

तत्त्वदृष्टि से, स्वभाव-बल में जमते-ही आना–जाना व न आना–जाना, जुदे ज्ञान में सहज-ही मोहभाव प्रतिभासित होते हैं; —यह मोहभाव त्रिकाल में पौद्गलिक ही हैं, तो इनकी पकड़ क्यों? यह हमारे हैं ही नहीं—ऐसा इनसे भिन्न अनुभव, मात्र हमारा लक्ष्य हो जाना चाहिए।

''भेदज्ञान से भ्रम गयो, नहीं रही कुछ आश।
धर्मदास क्षुल्लक लिखै, अब तोड़ मोह की फास॥''

पूज्य श्री गुरुदेव के उपदेश का सार, द्वादशांग का सार तो केवल एक ही है कि ''अपने त्रिकाली स्वभाव में जैसे–तैसे भी होवे दृष्टि पसारकर बिराजमान हो जावो!'' क्षणे–क्षणे पदे–पदे वीतरागी ज्ञायकरस में ऐसी मग्नता बढ़ती जाएगी जिसका विच्छेद एक क्षण-भी नहीं गमेगा।

योग नहीं होने से, महाराज सा0 का सोनगढ़ लौटने का प्रोग्राम लम्बा जाने से, बम्बई से सोनगढ़ आने का मेरा प्रोग्राम बदला गया। पुण्य-योग होनेपर, दशहरे के आसपास आने का विकल्प है।

आप सदैवानुसार पूज्य गुरुदेवश्री की अमृतवाणी का लाभ लेते होंगे। जिसका तात्पर्य उनकी ओर से दृष्टि उठवाकर, पलटवाकर, निज अमर्यादित अमृत-खान में व्याप्त कराना है।

शेष मिलने पर।

सर्व संग से असंग होने का इच्छुक
निहालचंद्र

❀

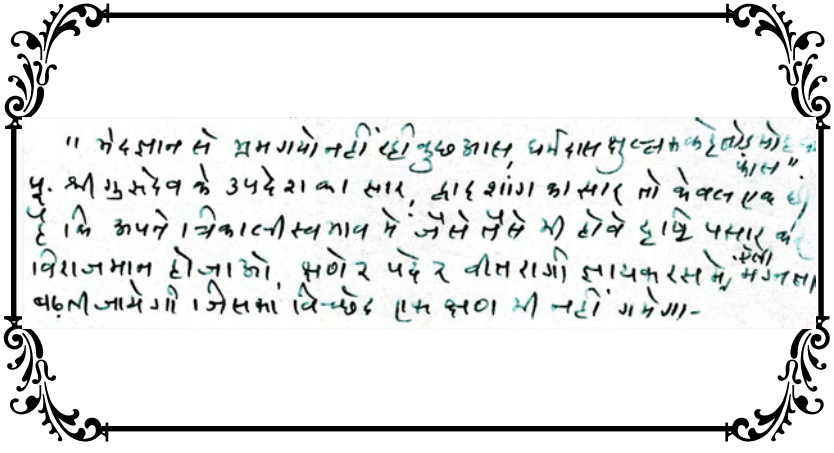

४२

कलकत्ता
२१-८-१९६३

ॐ

परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव को वंदन!

धर्मस्नेही....शुद्धात्म सत्कार।

आपका पत्र आज मिला। परम उपकारी श्री गुरुदेव सुख-शांति में हैं व उनकी अमृतमयी धोधमार वाणी का आप लोग अपूर्व लाभ ले रहे हैं, जानकर सहज प्रसन्नता हुई।

आपका राजकोटवाला पत्र यथासमय मिल चुका था, बहुत उत्साह भरा था; परंतु मेरा पुण्य ऐसा कहाँ कि, पूज्य गुरुदेव की वाणी का बारम्बार लाभ होवे।

आपके पत्रों में मेरे वहाँ आने के लिए ही मुख्यतया तीव्र अनुरोध रहता है; आने की योग्यता नहीं होती, तो क्या जवाब दूँ? सोनगढ़ आने का लक्ष्य रखकर बम्बई तक आना हुआ, परंतु महाराजश्री के विहार से लौटने की तिथि में अकस्मात् बार-बार फेर पड़ा, अतः वापस बम्बई से ही लौटना पड़ा।

आपका लिखना कि ''सांसारिक विकल्प पण थाय छे, अने कार्य पण थाय छे, निवृत्ति इच्छनारने मात्र सोनगढ़मां ज वास होय'' आदि—इसका क्या अपेक्षित जवाब देऊँ? यहाँ तो पूज्य गुरुदेव ने आत्मगढ़ में वास कराकर प्रसाद चखाया है, अतः क्षणिक विकल्प भी सहज विस्मरण होते रहते हैं। कहता हूँ कि : हे विकल्पांश! तेरे संग अनादि से दुःख अनुभव करता आया हूँ, अब तो पीछा छोड़। यदि कुछ काल रहना ही चाहता है, तो सर्वस्व देनेवाले परम उपकारी श्री गुरुदेव की भक्ति-सेवा-गुणानुवाद में ही उनके निकट ही वर्त। इस क्षेत्र में तो अधिक

दुःखदायी है। चूँकि गुरुदेव ने इसकी उपेक्षा कराकर इससे विमुख करवा दिया, अतः यह भी लम्बाकर साथ नहीं देता।

"जैसो शिवखेत बसै, तैसो ब्रह्म यहाँ बसे,
यहाँ–वहाँ फेर नाहीं, देखिए विचारके।"

मेरे प्रति आपका अनुराग ज्ञान में है। पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि : तुम स्वयम् अक्रिय चैतन्य-ढीम हो, इस अगाध सागर का सहज अनुराग करो। पराश्रित अनुराग तो एकांते दुःख है। सुखाभासी होकर इसके रस को लम्बाना उचित नहीं। अपने तो एकांत सहज ज्ञान–सुख से लबालब व ठसाठस चैतन्य-ढीम बनकर जमे रहो। विकल्प व निर्विकल्प जैसी-भी अवस्था होवे, होने दो।

"करता करम क्रिया भेद नहीं भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरे है।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहिं लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनंत सुख भरै है॥"

वहाँ ठहरने–ठहराने के विकल्पजाल को लम्बाने से क्या लाभ? विकल्पानुसार क्रिया होना आवश्यक तो नहीं। जैसा योग है, हो जाएगा। चिंता तो ओछी ही अच्छी है। निकट भविष्य में वहाँ आने का विचार अवश्य है। परंतु सदैव की टेव अनुसार प्रोग्राम अकस्मात् ही बनता है, अतः समय लिखने के अयोग्य हूँ।

विकल्परस में अनुभवरस का अभाव है। एक ही ओर झुककर लम्बाने से दूसरे का अभाव होता है।

"गुण अनंत के रस सबै, अनुभौ रसके माहिं।
यातैं अनुभौ सारिखो, और दूसरो नाहिं॥"

विशेष मिलने पर।

—असंगता का इच्छुक

४३

कलकत्ता
१०-९-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.....

आपका कई दिनों पहले पत्र आया था। श्री 'पँचाध्यायी' की दर्शन-ज्ञान विषय की गाथाओं का ज़िक्र था। पुस्तक का यहाँ सहज योग नहीं हो सका। सोनगढ़ में अपेक्षावत् इस विषय का समाधान, चर्चा हुई है, ऐसा स्मृति में है। आपको वहाँ से समाधान हो सकेगा, जानने पर खुलासा लिखें।

चैतन्यप्रतिमा व चेतनपरिणति के स्वतंत्र-स्वतंत्र अस्तित्व की यथार्थ क़बूलात कर चैतन्यप्रतिमा में अपना स्थापन करते-ही परिणति प्रतिमा का आलिंगन करने लगती है, जो इष्ट है।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

* सच्चा मुमुक्षु स्वच्छंद सेवन नहीं करता।.... मुमुक्षु का हृदय द्रवित होता है वैराग्यमय होता है।
* समस्त प्रकार की विपरीतता छूटने पर ही सम्यग्दर्शन होगा।

—पूज्य गुरुदेवश्री

४४

कलकत्ता
१०-९-१९६३

ॐ

अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

आत्मार्थी....

पत्र आपका ता. ३-९ का मिला । पहलेवाला पत्र भी यथासमय मिल गया था ।

दशलक्षणी पर्व, आपने तीन लोक में परम उत्तम, निर्भय बनानेवाले, परम निर्भय, सिंहस्वरूप श्री गुरुदेव के सान्निध्य में मनाए होंगे । वह कहते हैं :

''स्वभावअंश में किंचित्-भी दोष नहीं है। नित्य स्वभाव में दृष्टि थँभ जाने से, उत्पन्न हुए सहज स्वभाव में, क्षमा आदि दूषितभाव प्रत्यक्ष पराश्रित (जड के) पर के हैं; अतः सहज क्षमाभाव त्रिकाल जयवंत वर्तो! हमने कभी दोष किया ही नहीं, ऐसा स्वभाव निरंतर वृद्धि पामो । विभाव की गूँज में गूँजता हुआ अज्ञानभाव सहज नाश पामो । विभाव में तनीजो नहीं । स्वभावसीमा में निरंतर अडिग जमे रहो । क्षणिक विभाव वेदीजता हुआ अधिक की सीमा को पार नहीं कर सकता, अतः वहीं लय हो जाता है ।''

''करता करम क्रिया भेद नहीं भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है ।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहिं लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनंत सुख भरे है ॥''

ज्ञान-कणिका पत्र द्वारा मँगवाई, सो यह तो आपके पास ही है। स्वअवलम्बन से सहज-ही विभाव से पृथक् होकर प्रगटती रहती है।

हे शशीभाई! अनेकानेक जीवों की योग्यता अक्षय सुख के उदय की है, अतः तीर्थंकर से भी अधिक सत्पुरुष का योग प्राप्त हुआ है, जिनकी नित्य प्रेरणा उधर से विमुख कराकर स्वयम् के नित्य भण्डार की ओर लक्ष्य कराती रहती है; यहाँ से ही पूज्य गुरुदेव के न्याय अनुभवसिद्ध होकर दृढ़ता प्राप्त कराते हैं।...

"जिन (निज) सुमरो जिन चिंतवो, जिन ध्यावो सुमनेन।
जिन ध्यायंतहि परमपद, लहिये एक क्षणेन॥"

वात्सल्यानुरागी
निहालचंद्र

❀

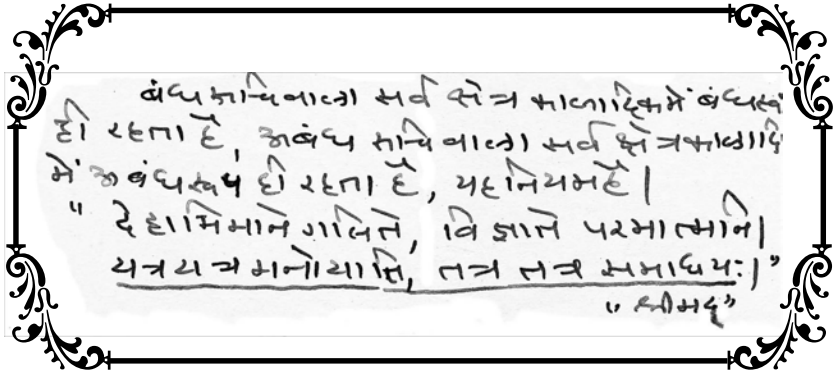

४५

कलकत्ता
२६-६-१९६२

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार।

आप लोगों को तत्त्व की स्वयम् की रुचि बढ़ रही है, अतः तत्त्वचर्चा में प्रमोद होता है। जो पत्र में लिखा है। अब तो सुनने–सुनाने में भी थकान मालूम होने लगे, ऐसी परिणति जागृत होनी चाहिए। सो नित्य सुखधाम स्वक्षेत्र में अडिग जमते-ही उत्पन्न एकांत सहज सुख में प्रत्यक्ष अनुभव होगा। कुछ करना–कराना नहीं है, मात्र स्व-अस्तित्व में दृष्टि पसारकर एकांते थँभ जाना है। ध्रुव ज्ञानानंदमूर्ति अनंत गुणों की खान हूँ। परिणमन–क्रियाएँ सहज हो रही हैं। प्रतिसमय नित्य व क्षणिक दोनों भावों का एक-ही समय सहज अनुभव वर्तता रहे, ऐसा परम उपकारी श्री गुरुदेव का वाच्य है; सो अभ्यास वर्तो। मात्र क्षणिक वेदन ही नहीं प्रतिभासो।

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

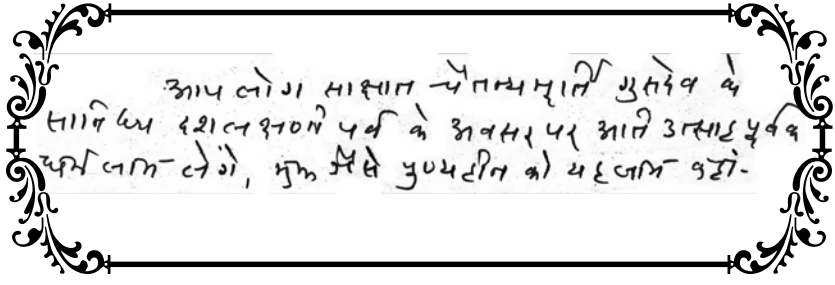

४६

कलकत्ता
२७-९-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार ।

श्री लालचंदभाई की परिणति में मुख्यतया अध्यात्ममंथन चलता है । अभी बम्बई में आए भाईयों के पत्र में भी पूर्व अवसर के उनके वहाँ के वाँचन में ऐसी परिणति का ज़िक्र आया है । अतः चित्त प्रसन्न होता है । उन्हें, डॉ. चंदुभाई व अन्य सब मिलनेवाले साधर्मी भाईयों से मेरा धर्मस्नेह कहना ।

यही भावना है कि : परम उपकारी श्री गुरुदेव की छत्रछाया में हम सब मुमुक्षु अपने नित्य स्वक्षेत्र में अडिग जमे रहें । जिस (स्वधाम) की अपेक्षा परिणाम मात्र—केवलज्ञानादि—परतत्त्व हैं । ऐसा होते-ही नित्य व क्षणिक दोनों भावों का अनुभव प्रतिसमय एक-ही काल होता रहेगा, जो कि गुरुदेव का अभिप्राय है ।

''करता करम क्रिया भेद नहीं भासतु है,
अकर्तृत्व सकति अखण्ड रीति धरै है ।
याहीके गवेषी होय ज्ञानमाहिं लखि लीजै,
याहीकी लखनि या अनंत सुख भरै है ॥''

धर्मस्नेही
निहालचंद्र

❀

४७

कलकत्ता

१७-१०-१९६३

ॐ

चैतन्यमूर्ति श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार।

पत्र आपके समय-समय पर तीन मिले। अब मेरा शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है। करीब एक माह पलंग पर रहना हुआ। चिंता अथवा राग तो स्वयम् को हानिकारक है। स्व में अथवा पर में अकार्यकारी है। अतः हर समय स्वभाव-बल से सहज निषेधपूर्वक होवे तो (भी विकल्प का) फल आदरणीय नहीं हो सकता।....

इन दिनों साधर्मी भाईयों का पत्र-व्यवहार कुछ बढ़ा है। परंतु सहज विकल्प-निमित्ते जवाब लिखीज जावे वह ही अच्छा है। अतः जवाब देरी आदि की प्रतीक्षा अधिक नहीं रखना ही अच्छा है।

आशा है परम उपकारी श्री सद्गुरुदेव सुख-शान्ति में विराजते होंगे। इस माह के गुजराती 'आत्मधर्म' में अनुभवरस की भीगी हुई वाणी व प्रसन्न मुद्रा देखकर चित्त डोल उठा। आपने फ़रमाया है :

''अमारो के (केवल) ज्ञाननो ध्वज फरकी रह्यो छे। केवल ज्ञाननो झण्डो फरकावता-फरकावता अल्प काले मोक्षमां जशुं।'' —इन वचनों को बारम्बार रस लेकर भी वृत्ति तृप्त नहीं हुई।

अधिक क्या लिखूँ? पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि : ''ज्ञानीने रागादि भावो पोताना स्वभावपणे जरा पण भासता नथी, स्वरूपनी बहार ज भासे छे।''—यही वेदन हम सब को दृढ़तर होता जावे, यह ही भावना।

धर्मस्नेही

निहालचंद्र सोगानी

४८

कलकत्ता

२३-१२-१९६३

आत्मोन्मुखी..... शुद्धात्म सत्कार ।

यहाँ पहुँचने पर आपका आया हुआ पत्र देखा । भगवान् श्री जयसेन आचार्य की गाथा ३३८-३३९ की टीका में से 'अपरिणामी' सम्बंधित लाईनें आपने अद्धृत कर लिखी, उन्हें बाँचकर बहुत ही प्रमोद हुआ ।

सांख्यानुसारी शिष्य, अभिप्राय में निश्चय-व्यवहारमयी आखे प्रमाणरूप अनेकांतस्वरूप द्रव्य को एकांते अपरिणामी समझकर, 'जैनागम में भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव को अपरिणाम कहा गया है, ऐसा कहता है।'—जिसका समाधान आचार्यदेव ने किया है : 'परंतु व्यवहारनय से परिणामी है; शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से अपरिणामी है'—इस बात को रखकर, व्यवहारअंग नहीं समझनेवाले शिष्य को 'परंतु' शब्द मूककर परिणमनरूप व्यवहार भी बताया है ।

'निष्क्रिय' भाव व शब्द के लिए आपने आचार्यश्री की गाथा-३२० की टीका वहाँ बताई थी व पूज्य गुरुदेवश्री के मुखारविंद से सोनगढ़ में भी रात्रि चर्चा समय इसका स्पष्टीकरण हुआ था ।

इस प्रकार निष्क्रिय व अपरिणामी, त्रिकाली-सदृश्य परम शुद्धनय का विषय—दृष्टि का विषय—द्रव्य मैं हूँ, इसका आगम आधार तपासकर आपने बताया, इससे बहुत आनंद हुआ ।

श्री योगीन्द्रदेव के 'परमात्मप्रकाश' श्लोक (गाथा) नं. ६८

पर श्री ब्रह्मदेव की टीका, पं. दौलतरामजी के अनुवाद सहित, को शीघ्र देखूँगा। साथ-ही श्री जयसेन आचार्य की 'टीका-प्रति' यदि यहाँ मिल गई, तो उक्त गाथा सहित पूरी देखने का विचार है। जो कि पहले मेरी देखी हुई नहीं है।

अत्रुटक भावे सहजानंद में मग्न रहो, यह ही भावना है।

मोक्षेच्छुक
निहालचंद्र

❀

- तू अभी ही, और जब देखो तभी 'सिद्ध समान ही है'।
- उपयोग को चारों ओर से सिमटा कर एक आत्मा में ही मग्न हो!
- एक बार स्वभाव के प्रति उत्साह ला!
- स्वभाव की महिमा ला कर अपनी शक्ति को उछाल!
- जिसे ज्ञानस्वरूप का ज्ञान है, वही ज्ञानी है।
- अनंत के नाथ (निजात्मा) को नहीं जाना इसलिए अनंत भव करने पड़े हैं।
- चैतन्यस्वभाव सुख से लबालब है, उसका विश्वास कर!
- अनेकांत भी सम्यक् एकांत की अपेक्षा रखता है।
- तत्त्वज्ञान का मूल सर्वज्ञ है।

—पूज्य गुरुदेवश्री

४९

कलकत्ता
२७-१२-१९६३

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार ।

आपका पत्र यथा समय पर मिला था । कई प्रकार के प्रश्न लिखे, जिन सम्बंधित योग्यतानुसार संक्षिप्त खुलासा लिखता हूँ :

१. स्वद्रव्य से, पर से अथवा क्षणिक योग्यता से 'ज्ञान' सर्व समाधानों का भण्डार त्रिकाली चैतन्यद्रव्य वर्तमान में ही हूँ; इसमें दृष्टि अभेद होते-ही, प्रश्नरूप विकल्प की, विकल्पांश से जुदी स्वआश्रित सहज जाननक्रिया होती है, वह क्रिया स्वयम् ही समाधानरूप है । जिसमें प्रश्न लम्बाने का अभिप्राय नहीं रहता ।

यथार्थ उक्त दृष्टि पश्चात् योग्यता का वास्तविक भाव समझ में आता है । योग्यता स्वयम् सत् अहेतुक है; जिसको निश्चये न स्व द्रव्य कारण है न पर । यह अपरिणामी द्रव्यदृष्टि समय–समय की योग्यता में फेरफार की बुद्धि नही रखती व योग्यता भी दृष्टि के अभेद विषय की ओर समये–समये वृद्धिगत उन्मुख होते–होते पूर्ण समाधानरूप अभेद हो जाएगी, ऐसी निःशंक प्रतीति इस दृष्टि में गर्भित है ।

मुनिराज, आचार्यभगवान् के पास समाधान हेतु जाते हैं; उस समय भी प्रश्न-विकल्प से छिटकी हुई जाननक्रिया उनको वर्तती रहती है । परंतु कचासरूप अशक्ति के कारण प्रश्न-विकल्प क्षणिक लम्बाने से प्रश्न-क्रिया होती है । समाधान बाह्य से होगा

ही अथवा होना ही चाहिए, ऐसा अभिप्राय मुनिश्री के प्रश्न-विकल्प समय नहीं वर्तता ।

२. श्रद्धा व ज्ञान :

श्रद्धा व ज्ञान भिन्न–भिन्न गुण की स्वतंत्र एक-ही काले अहेतुक पर्याएँ हैं । मृतक वेश्या का चित्र दृष्टांतरूपे पुस्तकों में है । भिन्न–भिन्न श्रद्धावाले चार जीवों को ज्ञान में निमित्तरूप तो एक-ही विषय है । परंतु श्रद्धान भिन्न–भिन्न प्रकार का होने से भिन्न–भिन्न परिणति है । निश्चय से एक-ही जीव को एक-ही काले श्रद्धा व ज्ञान की स्वतंत्र अहेतुक परिणति होती है जो कि एक दूसरे को अकारणीय है । कार्य होनेपर ज्ञान श्रद्धान का कारण हुआ अथवा श्रद्धान ज्ञान का कारण हुआ, ऐसा सम्बंध बताया जाता है । ग्यारह अंगधारी मिथ्यादृष्टि धारणाज्ञान में तत्त्व को परोक्षरूपे यथार्थ जानता है परंतु श्रद्धा की पर्याय में, रुचि में, उसको अभेद पकड़कर प्रत्यक्ष नहीं करता, अतः दृष्टि मिथ्या बनी रहती है ।

३. पुरुषार्थ :

'स्वरूप की प्यास.'

प्यास स्वयम् पर्याय-स्वभाव है ।

वीर्य गुण की पर्याय में सदैव पुरुषार्थ होता रहता है ।

नित्य, सहज, निष्क्रिय, त्रिकाली द्रव्य में दृष्टि अभेद होनेपर जो पुरुषार्थ होता रहता है, वह स्वआश्रित सहज ज्ञानानंदी पुरुषार्थरूप पर्याय- स्वभाव है ।

विकल्पात्मक पुरुषार्थ असहज, कृत्रिम पुरुषार्थ है । सहज द्रव्यस्वभाव की अरुचि होने से पर्याय में सहज पुरुषार्थ नहीं उघड़ता; अतः मिथ्यादृष्टि नियतवादी एकांते कृत्रिम पुरुषार्थ करता

रहता है। इस-ही कारण 'थवानुं हशे तेम थशे' इस आशय को कहने का वह यथार्थ अधिकारी नहीं है। उसके अभिप्राय में फेरफार की बुद्धि तो पड़ी रहती है। उसकी स्वतंत्र योग्यता निरंतर परावलम्बी वर्तती है व उसे उसमें उत्साह बढ़ता रहता है।

—यह बात स्वद्रव्य (का) अवलम्बन करनेवाला ज्ञानी यथार्थ जानता है।

४. (मिथ्यादृष्टि) संसारीजीव स्वरुचि-अनुसार अपनी रसपूर्ति के हेतु अमुक पर को जानता है; अतः इष्ट प्राप्ति में बाधक कारणों से द्वेष करता है। इसका कारण मात्र परावलम्बी रुची ही है, अन्य नहीं।

हम सब नित्य स्व का संगरूप वर्तन करें, यह ही भावना है।

—निहालचंद्र

❀

ॐ

नित्य शुद्ध सुख-सागर के रस-प्रति वृत्ति द्वारा आस्वादन करते रहना ही हर आत्मा के लिए परम कार्य है; अन्य सर्व अकार्य हैं। जैसे भी होवे परसन्मुख रस शिथिल (क्षय) करो! स्वसन्मुख आनंद में निरंतर लीनता, यह स्थिति पूर्णपने प्रगट कर देगी। निकट आत्मार्थ को इस हेतु बिना अन्य लक्ष्य किंचित्-भी नहीं होता; वरना संसार-प्रति के दुःखों से किंचित्-भी हटना नहीं हो सकता।

—पूज्य श्री सोगानीजी

५०

कलकत्ता
२-१-१९६४

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी.... शुद्धात्म सत्कार ।

आपका ता. १८-१२-६३ का पत्र यथासमय मिला था । मैं यहाँ १७-१२ को वापस पहुँचा था । मार्ग में अधिक रुकने से दिल्ली नहीं ठहर सका था ।

नित्य शुद्धात्मस्वभाव में दृष्टि अभेद कर, तादात्म्य कर, निर्विकल्प कर, सहज अहम्पने से स्वमूर्ति की स्थापना करो । देह, मन, वाणी, राग व क्षायिक–क्षणिक भाव से भी पार, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म सामान्य द्रव्यमयी गठरीरूप हो कर जमे रहो ! इस नित्य बल की अधिकायी से क्षणिक परिणाम में खिसको नहीं ! ज्ञान राग से सहज पृथक् हो कर, क्षणे–क्षणे वृद्धिगत होते–होते पूर्ण उघड़ जाएगा ।—ऐसे पूज्य गुरुदेवश्री के आशय को यथार्थ परिणमित कर देना हम सर्व मुमुक्षुओं का सदा सुखानुभवी कर्तव्य है ।

महाआनंद का नित्य भोगवटा रहे, यही भावना है ।

मोक्षेच्छु : निहालचंद्र

'मैं ही परमात्मा हूँ; यह नक्की कर !
'मैं ही परमात्मा हूँ; ऐसा निर्णय कर !
'मैं ही परमात्मा हूँ ऐसा अनुभव कर !
—पूज्य गुरुदेवश्री

५१

कलकत्ता
२०-२-१९६४

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी....शुद्धात्म सत्कार ।

पत्र मिला । परम कृपालु गुरुदेवश्री के मुखारविंद से मुझ सम्बंधी निकले सहज उद्गार आपको अमुक-अमुक स्थानों के भाईयों से ज्ञात हुए सो आप सब ने स्वाभाविक प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक मुझे लिखे, सो जाने ।

मुक्तिनाथ की इस दास प्रत्ये सहज कृपादृष्टि इस बात का द्योतक है कि : अति उमंगभरी मुक्तिसुंदरी अप्रतिहतभावे, मुझ कृतकृत्य के साथ, महा आनंदमयी अस्खलित, परमगाढ़ आलिंगनयुक्त रहकर शीघ्रातिशीघ्र कृतकृत्य होना चाहती है ।

परम पिताश्री ने हम सब पुत्रमण्डल को अटूट लक्ष्मीभण्डार भोग हेतु प्रदान किया है, इसे नित्य भोगो, नित्य भोगो, यह ही भावना है ।

तीर्थंकरयोग सूचित करता है कि : सब सज्जन पुत्रगण इस भोग को निःसंदेह भोगते हुए नित्य अमर रहेंगे ।

''स्थानो न क्षायिकभावनां, के क्षायोपशमिक तणां नहीं,
स्थानो न उपशमभावनां, के उदयभाव तणां नहीं.''

''गुण अनंतके रस सबै, अनुभौ रसके माहिं,
यातैं अनुभौ सारिखौ, और दूसरो नाहिं.''

पृथक्-पृथक् पत्रों की पहुँच सम्भव नहीं, अतः सहज

मिलनेपर आप उन भाईयों को मेरा यथायोग्य स्नेह बोल देवें।.... सर्व भाईयों के नित्य आनंद का निरीच्छकपने इच्छुक।

मात्र मोक्ष अभिलाषी
निहालचंद्र सोगानी

❀

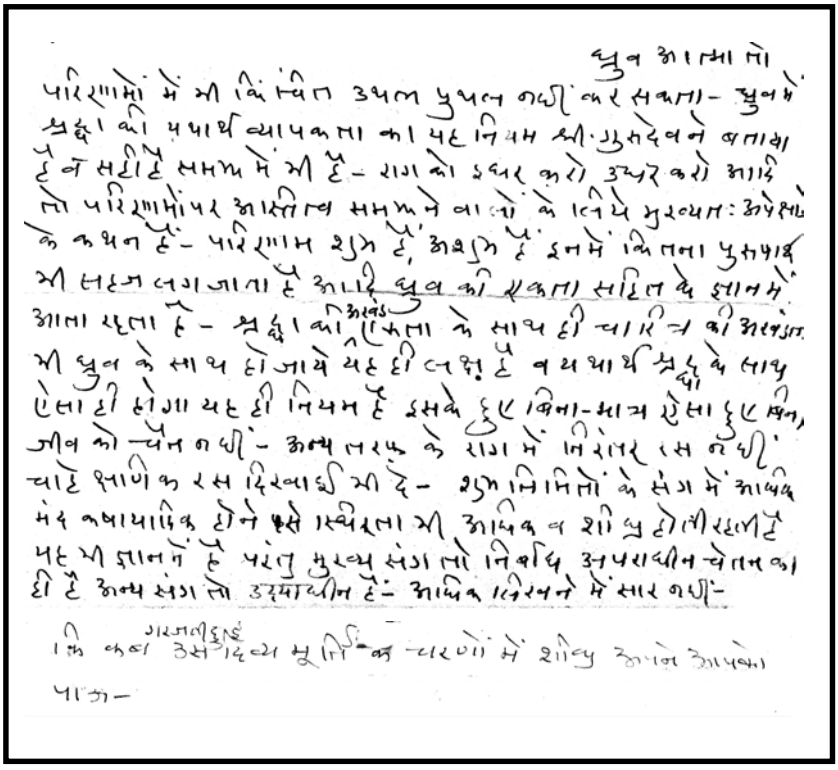

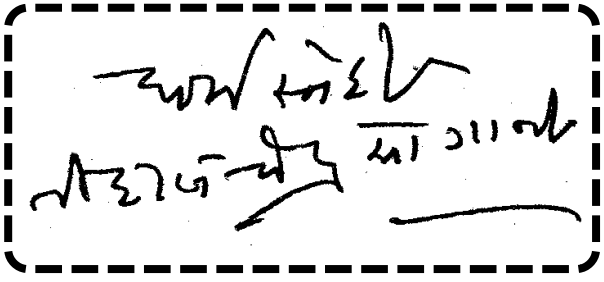

ॐ

परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि प्रकाश

(द्वितीय खण्ड)

पूज्य गुरुदेव श्री के
श्री सोगानीजी प्रति

श्री श्रीगुरु-गिरा

चिन्मय, भव्य, दिव्यमूर्ति, मुक्तिनाथ, महान् योगी,
परम कृपालु, परमोपकारी श्री कहानजी स्वामी के
मुखारविंद से सहज निकले
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के
प्रति उद्‌गार

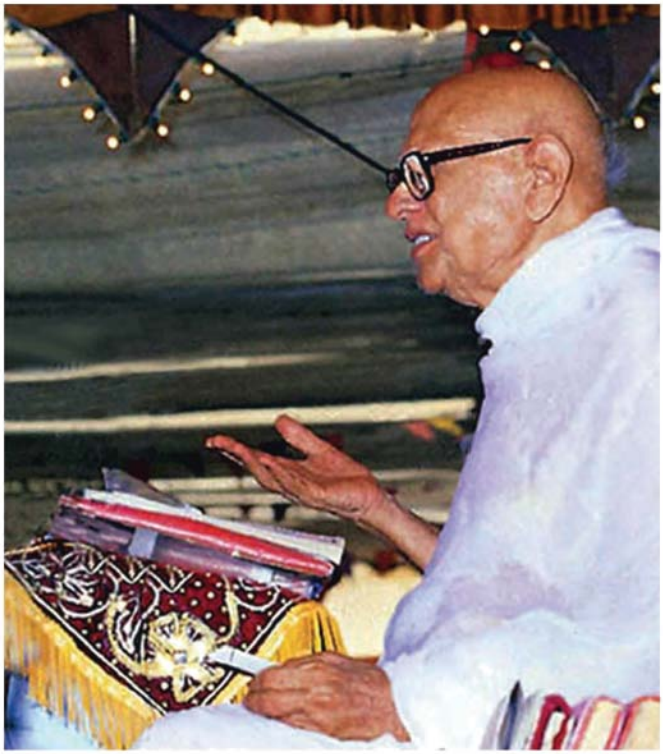

हे गुरुदेव! आप कितनी पहोला तक प्रसर चुके हो!! पहोलाई भी है साथ-ही ठोसपना भी!

हे गुरुदेव! आपकी वाणी का स्पर्श होते ही मानो विश्व की उत्तमोत्तम वस्तु की प्राप्ति हो गई। क्या मैं मुक्त होनेवाला हूँ! अरे! शास्त्रों में जिस मुक्ति की इतनी महिमा बखानी है, उसे आपके शब्द मात्र ने इतना सरल कर दिया!! क्या विश्व में अब और-भी कुछ चाहना बाक़ी रह गई?

– निहालचंद्र सोगानी

अपूर्व सत्पुरुष, मुक्तिदूत, वीतरागप्रधानी, चैतन्यमूर्ति श्री कहानजी स्वामी के प्रवचनों में पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी की अंतर्दशा, आध्यात्मिक उपलब्धि, असाधारण पुरुषार्थ व मार्मिक शैली की सराहना करते भावोद्‌गारों का अनुवादित संकलन

(१)

सोगानी का पुस्तक है 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश'। बहुत शक्ति थी। आत्म-ज्ञान हुआ था यहाँ इसी गाँव (सोनगढ़) में। पहले साधु-बाबा का बहुत परिचय किया था। यम, नियम, ध्यान (सब किया था)। फिर यहाँ आए। (मैंने) इतना कहा : भैया! 'यह विकल्प उठता है न राग...चाहे तो दया, दान का हो... इस सब राग से अंदर प्रभु भिन्न है।'—ऐसा कहा। और (वे) ध्यान में चले गए... यहाँ भोजनालय है न भोजनशाला (समिति).... समिति में गए.... और साँझ से सुबह तक ध्यान में बैठे। अंदर में घोलन करते-करते-करते राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव यहाँ समिति में हुआ था। बाद में सारी जिंदगी बहुत अच्छे संस्कार लेकर स्वर्ग में चले गए। आहा...हा! बहुत शक्ति थी। 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' है न! उसमें बहुत है! वहाँ से निकलकर बाद में दूसरे भव में केवलज्ञान पाकर मोक्ष हो जाएगा। वहाँ स्वर्ग में भी आत्मा में स्थिर होते हैं। परंतु थोड़ा राग है, तो मनुष्यभव पाकर, केवलज्ञान पाकर, राग का नाश होकर मुक्ति होगी।

—श्री 'समयसार कलश टीका'-श्लोक-२१६ प्रव. नं. २४१(२५-२-७८) के प्रवचनांश

(२)

सोगानी कई बार ऐसा कहते हैं न कि 'हमें ''एक आवश्यक है'' पढ़कर चोट लगी थी'... तो ये सब छह आवश्यक में बोझा लगता है। बोझा लगता है, बात सच्ची है... 'निहालचंदभाई सोगानी' लिखते हैं : हमको 'आत्मधर्म' मिला और उसमें जब ''एक आवश्यक'' की बात आई कि ''आवश्यक एक है''—निश्चय से करने लायक वीतरागभाव (है)—(ऐसा पढ़कर) हमको चोट लगी... तो हमारा कार्य हमने कर लिया। —ऐसा लिखते हैं। 'गुरुदेव' ने कहा, वैसा हमने वह कार्य किया....बहुत काम करके चले गए। देह छूटे पाँच वर्ष हो गए। अनुभव की दृष्टि, निर्विकल्प की दृष्टि का ज़ोर इतना! कि, द्रव्यदृष्टि-प्रधान ही उसका कथन चलता था... बस! उन्हें कहाँ उपदेश देना था?... सभा इकट्ठी हो, बहुत (लोग) हों—ऐसा उन्हें कुछ था? उस समय ऐसा आया भाई! उन्हें तो कोई ज़रूरत नहीं थी...कैसी बात है देखो न!....'हमको भगवान् के नाम सन्मुख का विकल्प आता है, वह भट्ठी लगती है'—ऐसा लिखा। बात सच्ची (है)। भगवान् के नाम की ओर लक्ष्य जाता है... भगवान् यह तीर्थंकर हैं—ऐसा लक्ष्य जाता है, तो भट्ठी लगती है। शुभराग है न! आग है। कषाय है कि नहीं? 'छह ढाला' में कहा नहीं? ''राग आग दहै सदा'' भाषा तो बहुत लोग बोल लेते हैं। लेकिन राग-(शुभ) विकल्प हो, तो भी दाह और अग्नि है, कषाय है। अट्ठाईस मूलगुण कषाय-भट्ठी है।

—श्री 'प्रवचनसार'-गाथा : २०८-२०९ प्रव. नं. १९०(२२-६-६९) के प्रवचनांश

(३)

आश्रय का प्रश्न 'सोगानी' को बहुत आया था। भाई!

'सोगानी' को यह आश्रय का बड़ा प्रश्न आया कि 'आश्रय' (कहने पर तो) पर्याय पराधीन हो जाती है। बात उनकी सच्ची थी। बहुत विचार किया था न! बहुत विचारक थे। तथा ज्ञान का भान बहुत हो गया! आनंद का स्वाद बहुत आया हुआ!! उसमें उन्हें ऐसा विचार आया था कि : पर्याय को द्रव्य का आश्रय?! तो पर्याय (पराधीन हो गई)! पीछे समाधान तो हुआ कि : यह पर्याय स्वयम् है । इसका (द्रव्य का) आश्रय लिया है इसलिए आश्रय (है, यों कहने में आता है)। कहीं पर्याय पराधीन हुई है, ऐसा नहीं है। लक्ष्य वहाँ (द्रव्य पर) गया है न! भगवान् तीनलोक का नाथ सर्वज्ञ प्रभु! उसकी पर्याय का लक्ष्य वहाँ गया है, इतना फेर पड़ा, इसलिए द्रव्य का आश्रय लिया, यों कहने में आया। *—श्री 'प्रवचनसार'- गाथा-४७, प्रव. नं. ४४(१९-२-७९) के प्रवचनांश*

(४)

निहालभाई ने तो यों कहा कि : ज्ञानी को शुभभाव भट्ठी हैं। आहा...हा! यह तो ज्ञानी की बात है न! अज्ञानी को भट्ठी की कहाँ ख़बर है? यह तो इसे ख़बर है : भट्ठी है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा! उन्हें...अज्ञानी को तो 'भट्ठी है', इसकी ख़बर नहीं है। भाई! 'भट्ठी है'—इसकी ख़बर है उसे (ज्ञानी को) भट्ठी है (और) शांति है, इसकी ख़बर है। तथा जितना शुभभाव है, उतनी भट्ठी है। इसको ख़बर है। आहा....हा! अज्ञानी के भट्ठी है, उस भट्ठी की यहाँ बात नहीं है। लेकिन भट्ठी की उसको (अज्ञानी को) ख़बर ही नहीं है। अभी भट्ठी क्या एवम् यह आत्मा क्या? आहा...हा! धर्मी के जितना शुभराग उत्पन्न होता है, वह भट्ठी है।

—श्री 'प्रवचनसार'-परिशिष्ट-४७, प्रव. नं. ६७(३१-१२-७७) नय के प्रवचनांश

(५)

(श्री निहालचंद्रजी) सोगानी ने ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' के बोल–२६५ में ऐसा) लिया है कि ''पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न है।'' तो आचार्य का कथन 'यह'; तथा (सोगानीजी का) 'यह'! इनका (कथन) भी यथार्थ है। इन्होंने परमनिश्चय से—अमृतचंद्राचार्य की शैली से—कहा है। कुछ समझ में आया? अलौकिक बात है, भाई!

भाई! सोगानीजी ने तो यों कहा है कि ''द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न है।''

—श्री 'समयसार'-गाथा ३२०, प्रव. नं. ४५०J (१८-८-७०) के प्रवचनांश

(६)

यह तो सुबह से ज़रा यह विचार आया था भाई का—सोगानी का। ''पर्याय मेरा ध्यान करे तो करो...मैं किसका करूँ?'' आता है उसमें। सोगानी थे कलकत्ता के... निहालचंद्र सोगानी यहाँ आए...बहुत बाँचन था। (उनका) लड़का पैसेवाला है, बहुत पैसा है। (सोगानी ने) बहुत बाँचन किया था...शास्त्राभ्यास किया था। बहुत साधु–जोगी–जैनसाधु से मिले थे। (फिर) यहाँ आए... (तो मैंने) इतना कहा : 'प्रभु! यह जो राग का विकल्प उठता है न... उससे अंदर भगवान् भिन्न है।'—ऐसे ही विचार में (पूरी) रात घोलन किया... सम्यग्दर्शन–निर्विकल्पध्यान होकर उठ गए!! उसमें २७१ वें बोल में लिखा है :

''अभिप्राय की ज़रा-सी भूल'' (यानी कि) 'राग मेरा है, पर्याय मेरी है' इतना-भी (अभिप्राय) हो, तो बड़ी भूल है। ''पर्याय

ध्यान करनेवाली है'' ...यह पर्याय जो ज्ञान की वर्तमान दशा है, वह ध्यान करनेवाली है, वह 'मेरा' ध्यान करती है; 'मैं' तो ध्रुव हूँ! ''पर्याय ध्यान करनेवाली है'' ... राग नहीं, शरीर नहीं, ध्रुव नहीं। ध्रुव का ध्यान करनेवाली पर्याय है। अरे...रे! ऐसी बातें हैं!! कभी सुनी न हों। ''पर्याय 'मेरा' ध्यान करती है। 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं हूँ।'' पढ़ा है? शरीर, वाणी, मन तो जड-पर हैं। राग-दया, दान, हिंसा का विकल्प—वह तो विकार है। परंतु विकार बिना की यहाँ जो पर्याय है, वह पर्याय 'मेरा' ध्यान करती है। 'मैं' तो ध्रुव, अनंतगुणों का पिण्ड प्रभु ध्रुव हूँ! पर्याय ध्यान करे तो करो। 'मैं' तो अनंत आनंद का कंद प्रभु हूँ!

('मैं' ध्यान करूँ—इस बात में; और 'मैं'; ध्यान करनेवाला नहीं), 'मैं' तो ध्यान का विषय हूँ—इस बात में ज़रा-सा फेर लगता है; परंतु है रात-दिन जितना बड़ा फेर। 'मैं' ध्यान करनेवाला नहीं; 'मैं' तो ध्यान का विषय हूँ! आहा...हा! ध्यान करनेवाला 'मैं' तथा ध्यान का विषय 'मैं'—दोनों में फ़र्क़ है—ऐसा कहते हैं। एक पर्यायबुद्धि है और एक द्रव्यबुद्धि है—इतना फ़र्क़ है।

—'बहेनश्री के वचनामृत' बोल : ३३४ से ३३६, प्रव. नं. १२९(२४-१०-७८) के प्रवचनांश

(७)

'मैं द्रव्य हूँ' इसमें पर्याय शामिल हो गई। 'मैं ध्रुव हूँ' —इसमें पर्याय शामिल नहीं। अतः जहाँ लक्ष्य है वहाँ पर्याय नहीं है परंतु पर्याय में ''मैं यह हूँ...यह हूँ'', ऐसे पर्याय में करने से वस्तु समझ में आनेवाली नहीं है। यह तो सोगानी (द्रव्यदृष्टि-प्रकाश) में आता है कि ''पर्याय मेरा ध्यान करे तो करे, मैं किसका ध्यान करूँ?'' पर यह जानता है कौन?

श्रोता : पर्याय को उसमें तन्मय किए बिना छुटकारा नहीं और पर्याय द्रव्य में नहीं है—ऐसा है!

उत्तर : त्रिकाली जो निश्चय का विषय है उसमें पर्याय नहीं! परंतु 'उसमें पर्याय नहीं है' ऐसा निर्णय कौन करता है? 'नहीं है' ऐसा निर्णय ध्रुव करता है? (—नहीं) यह (पर्याय) इस प्रकार धर्म है!

—श्री 'समयसार' गाथा ४७-४८, प्रव. नं. १२१(२९-१०-७८) के प्रवचनांश

(८)

अरे! भव्य और अभव्य—ऐसे दो भेद जीव के स्वभाव में नहीं हैं। भव्यपना और अभव्यपना तो पर्याय है, यह द्रव्य स्वभाव में नहीं होने से यहाँ इन्हें पुद्गल के परिणाम कह कर निकाल दिए, क्योंकि सिद्ध में भव्यपना नहीं रहता। जो यह स्वभाव हो, तो सिद्ध में भी होना चाहिए। जो योग्यता थी, वह पूरी प्रगट हो गई। सोगानी में आता है कि : आत्मा भवि है कि अभवि—यह बात रहने दे, छोड़ दे। 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में आता है कि : आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, यह भव्य–अभव्य नहीं।

—श्री 'समयसार' गाथा ५०-५५, प्रव. नं. १३०(७-११-७८) के प्रवचनांश

(९)

सोगानीजी कहते हैं कि : चक्रवर्ती छह खण्ड को नहीं साधते हैं...., गज़ब बात करी है!! समकिती चक्रवर्ती छह खण्ड को नहीं, अखण्ड को साधते हैं। जिनकी दृष्टि में ज्ञायक भाव की अखण्डता कभी नहीं छूटती वह तो अखण्ड को ही साधें न! सोगानी..... 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में आता है। पढ़ा है? पैसे तो किनती बार गिनते हैं! जगत् ऐसे ही चलता है न, भाई!

—श्री 'समयसार' गाथा २११, प्रव. नं. २९०(२१-८-७९) के प्रवचनांश

(१०)

यह तो जिसे जन्म–मरण के चक्कर से छूटना है उसके लिए यह बात है। बचाव या तर्क करना हो, उसके लिए बात नहीं है।

सोगानी निहालभाई कहते हैं कि ''करना सो तो मरना है''। राग को करना, यह मेरा कार्य (कर्तव्य)—ऐसी मान्यता तो सम्यक्दर्शन का नाश करती है।

—श्री 'समयसार नाटक'-श्लोक ११ के प्रवचनांश

(११)

प्रश्न : एक भाई पूछते हैं : ऐसी श्रद्धा, ज्ञान आदि न हों तब तक हमें क्या करना?

उत्तर : सोगानी कहते हैं : तब तक प्रयत्न करना, समझना। परंतु जीव को मूल में ''करने'' का भाव दृष्टि में से छोड़ना रुचता नहीं क्योंकि मान्यता तो यह कर रखी है कि, कुछ करें तो कल्याण हो। पर भाई! ''करना'' सो तो मरना है। विकल्प करना वो भावमरण है। अकर्ता होकर आत्मा में रहना, सो जीव का जीवन है। *—श्री 'समयसार नाटक'-श्लोक १८ के प्रवचनांश*

(१२)

निहालभाई को किसी ने प्रश्न किया होगा कि : स्थिरता क्यों नहीं होती? तो उत्तर दिया कि : स्थिर वस्तु को नहीं पकड़ा इसलिए स्थिरता नहीं होती। अस्थिर ऐसे राग के परिणाम और एक समय की पर्याय, जो अस्थिर हैं, को पकड़ ने से अस्थिरता ही रहेगी, परिणाम को पकड़नेवाला स्थिर नहीं हो सकता। *—श्री 'समयसार नाटक'–कलश १६ के प्रवचनांश)*

(१३)

मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, किसका ज्ञान करूँ? और किसके पास से कार्य (ज्ञान) करूँ? आहा...हा! चैतन्य हीरा! अनंत गुणों से भरा पड़ा है, प्रभु! आहा...हा! वास्तव में तो इस जीव के परिणाम होते हैं वे परिणाम भी त्रिकाली ध्रुव से नहीं होते! आहा...हा! तो पर के परिणाम जीव करे, यह तो कैसे हो सकता है?

द्रव्य पर्याय का दाता भी नहीं और कर्ता भी नहीं। आहा...हा! भाई! निहालभाई ने तो एक जगह लिखा है न कि: ''परिणाम परिणम गया और मैं यूँ का यूँ ही रह गया।'' लोगों को निश्चयाभास जैसा लगता है, लोगों को ख़बर नहीं है! परिणाम की दृष्टि ध्रुव पर है—यह परिणाम बदल गया और मैं तो यूँ का यूँ रह गया। ''मैं'' यानी ध्रुव। आहा...हा! लोगों को यह बात जँचती नहीं परंतु निहालभाई की बात परम सत्य है।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-५७-५८, प्रव. नं. ७२(२६-६-७५) के प्रवचनांश

(१४)

शरीर की जीर्णता से आत्मा जीर्ण हो यह कैसी बात है? आहा...हा! धर्मी की दृष्टि! शरीर पर लक्ष्य ही कहाँ है? भाई ने लिखा है न...निहालभाई ने कि: धगधगती करोडों सुईयाँ शरीर में घुसें तो भी ज्ञानी को इसकी चिंता नहीं होती कारण कि (वे ऐसा मानते हैं) ''ये मुझे स्पर्श ही नहीं करती।''

निहालभाई ने लिखा है: धर्मी तो हर समय तैयार रहता है। शरीर में धगधगती करोडों सुईयां घुसें तो भी ''मैं इनको स्पर्श नहीं करता और ये मुझे स्पर्श नहीं करती।'' आहा...हा! जिस

शरीर का मेरे में अत्यंत अभाव है, उस शरीर में ये घुसें तो मुझे क्या ? आहा...हा !

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-६३-६५, प्रव. नं. ७८ (२-७-७५) के प्रवचनांश

(१५)

पर्याय में जो परिणमन है, वह तो पर्याय का है। निहालभाई ने एक जगह कहा है कि : परिणामी व परिणाम कहने से तो (कुछ फेर पड़ता है)। ''अपरिणामी व परिणाम'' (कहो)। इसमें ज़ोर (अपरिणामी पर है)। परिणाम स्वयम् अपरिणामी पर लक्ष्य करता है, इसलिए ''अपरिणामी और परिणाम'' कहो, आहा...हा ! यह वस्तुस्थिति है। कारण कि अपरिणामी को परिणाम ने जब जाना तब अपरिणामी एवम् परिणाम कहा जाए। मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई ! सर्वज्ञ के पंथ में ही ऐसा न्याय है, तीन काल में भी अन्यत्र कहीं नहीं। आहा...हा !

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-६५-६६, प्रव. नं. ७९(३-७-७५) के प्रवचनांश

(१६)

विकल्प उठे तो भी नुकसानकारक है। आहा...हा ! भाई, निहालभाई ने यहाँ तक लिखा कि ''सुननेवाले को नुकसान और सुनानेवाले को नुकसान''। लिखा है....दोनों को नुकसान। आहा...हा !*—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-७१-७२, प्रव. नं. ८४(९-७-७५)के प्रवचनांश*

(१७)

प्रवृत्ति में विवेक होना चाहिए। एक ने निहालभाई से पूछा कि : विवेक क्या ? ''विवेक को एक ओर छोड़ दो''। और दूसरी जगह फिर कहते हैं कि ''पहले विवेक तो होना चाहिए''। ऐसे दो

प्रश्न हैं : एक जगह विवेक की बात है, विवेक की आवश्यकता बताई है कि, विवेक तो चाहिये, परंतु पर्यायबुद्धि नहीं करनी। पर्याय ऊपर ज़ोर न देना—ऐसा आशय है। न्याय की बात याद रहती है।

दो जगह बात आती है। देखो! बोल ५५३ :

परिणाम का विवेक तो, जो अनंत सुखी होना चाहते हैं उनको सहज होना चाहिए।

(फिर) देखो! ६८ वें बोल में निषेध करते हैं :

प्रश्न : अनुभव होने के बाद परिणाम में मर्यादा आ जाती है न! विवेक हो जाता है न!

उत्तर : विवेक की बात एक ओर रखो, एक बार तो विवेक को भूल जाओ (—पर्याय की सावधानी छोड़ दो)। परिणाम मात्र ही मैं नहीं; अतः वहाँ निषेध किया। और दूसरी जगह ''हाँ'' कहा। अपेक्षा से बात है। देखो, यहाँ कहा कि : परिणाम का विवेक जो अनंत सुखी होना चाहते हैं उन्हें सहज होना चाहिए...।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-७१-७२, प्रव. नं. ८४(९-७-७५) के प्रवचनांश

(१८)

ज्ञानी विषय–कषाय को दुःखरूप जानते हैं। इस बात में कईयों ने आपत्ति उठाई कि : ज्ञानी को दुःख नहीं होता। सोगानी कहते हैं कि : ज्ञानी को शुभभाव भट्ठी जैसे लगते हैं। इससे लोग भड़कते हैं।

विषय–कषाय का भाव ज्ञानी को भी होता है और दुःखरूप लगता है.....पूर्ण वीतरागता न हो तब तक। मिथ्यादृष्टि को

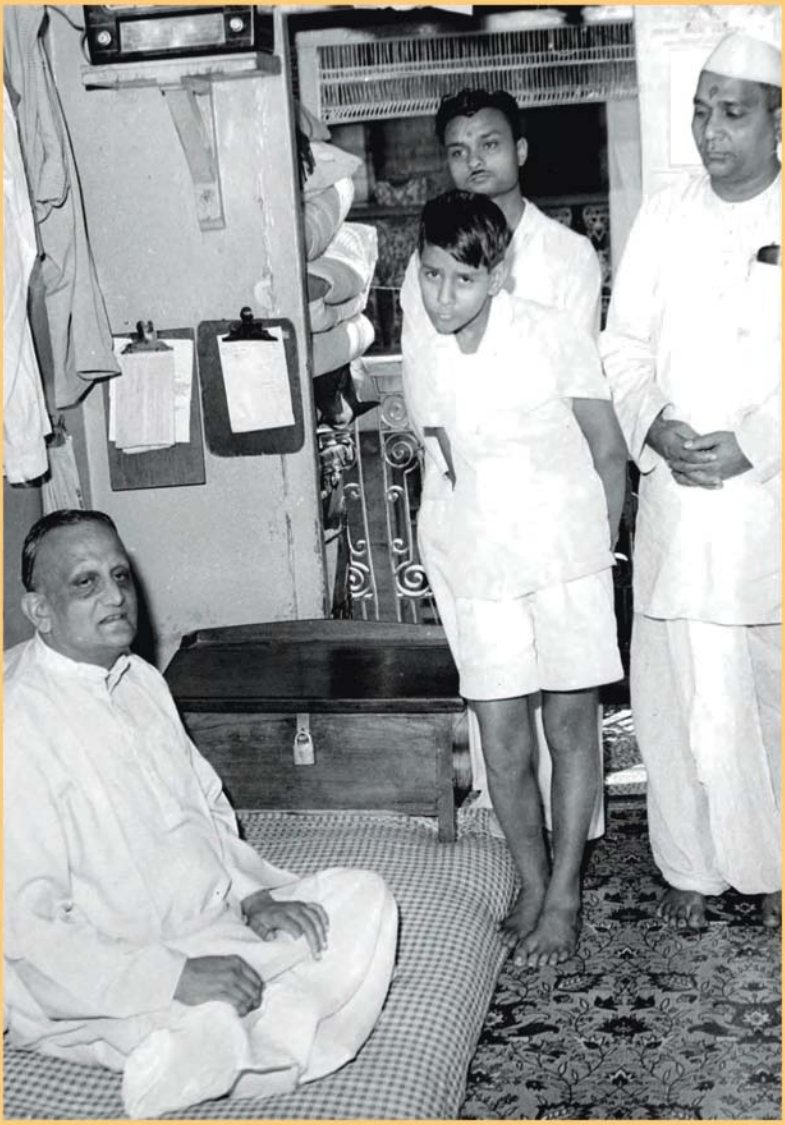

दूसरे से अपनी प्रसिद्धि होवे, इसमें तो अपने को पराधीनता आई; खुद तो लँगड़ा ही रहा ।

थोड़ा-भी आनंद नहीं होता, एकांत दुःख ही होता है। केवली को अंशमात्र भी दुःख नहीं, पूर्ण आनंद होता है। साधक को थोड़ा आनंद, थोड़ा दुःख रहता है।

—श्री 'समयसार कलश' श्लोक-१४०, प्रव. नं. १४४(९-११-७७) के प्रवचनांश

(१९)

आगरा में एक पण्डित बोल उठे : ''करना–धरना कुछ नहीं; अरे! भगवान् की भक्ति, पूजा कुछ करना नहीं.....मज़ा बहुत।''

यह करना...मैं राग को करूँ, सो मरना है। आत्मा की शांति का नाश होता है। भाई ने लिखा है....सोगानी निहालचंदभाई ने 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में... यह राग करना, ऐसा करना, वैसा करना, सो मरना है। यहाँ कहते हैं कि : ज्ञानमय होने से सब संसारी शुद्ध स्वरूप प्रभु हैं तथापि बलात् उल्टी द्रष्टि से राग का कर्ता होता है।

—श्री 'समयसार कलश' श्लोक-५७-५८, प्रव. नं. ७२ (२०-८-७७) के प्रवचनांश

(२०)

यहाँ कहते हैं कि : साक्षात् अतीन्द्रियसुख-पान करने से धर्मीजीव अतीन्द्रियआनंद का स्वाद लेता है। जैसे गन्ने का रस घट–घट पीते हैं वैसे धर्मी अपने अमृत चैतन्यसागर में एकाग्र होकर अमृत के घूँट पीते हैं। निहालचंद भाई ने 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में कहा है कि : जैसे गन्ने का रस घट–घट पीते हैं वैसे धर्मीजीव अपने अमृतसागर के सन्मुख होकर अंतर में निवास करते हैं तब अमृत पीते हैं।—इसका नाम धर्म है।

—श्री 'प्रवचनसार' श्लोक २३२-२३३ के प्रवचनांश

(२१)

जिसने राग और द्वेष को, विषय–कषायरूपी शत्रु को दूर किया है, उस पुरुष को तो ध्यान के लिए आत्मा ही सच्चा और अत्यंत निर्मल आसन है। आहा...हा! निहालभाई ने एक जगह कहा है न कि : मैं तो अंदर में पालथी लगाकर बैठ जाता हूँ। एकदम सादी शैली में बात कह दी है। पालथी का अर्थ कि : मैं अंदर में जम जाता हूँ। ''पालथी लगाना'' ऐसा जो कथन है, तो क्या अंदर में पालथी (सामान्य अर्थ में) लगाते होंगे? इसका अर्थ है कि : मेरी पर्याय द्रव्य में थँभ जाती है। आहा...हा! लोगों को यह अटपटा लगता है, परंतु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। पर्याय की द्रव्य में स्थापना, उसमें लीन करना, यह पालथी लगाकर बैठने का अर्थ है।

ध्रुव में आसन लगाना, यह बहुत गूढ़ बात है, भाई!

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक ७३-७४, प्रव. नं. ८६ (११-७-७५) के प्रवचनांश

(२२)

मैं जहाँ खड़ा हूँ, वह तो पर्याय है और यह पर्याय जिसकी है वह ''महा तत्त्व'' है। पर्याय उसपर खड़ी है। कैसी भाषा है!! निहालभाई में ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में) ऐसे शब्द आते हैं। किसी ने ऐसा प्रश्न किया कि : ''यह बात न्याय से तो समझ में आती है परंतु ध्रुव स्वभाव की ओर ढ़लना नहीं होता, इसका क्या कारण?'' इसमें ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में) आता है, कहीं आता है अवश्य। विशाल सागर है!!

तब उत्तर में कहते हैं कि : जो पर्याय तुझे न्याय से समझ में आती है, विकल्प से, न्याय से, वह पर्याय किसी पर तो खड़ी

है कि नहीं? समझ में आया? जो पर्याय तुझे न्यायसे समझ में आती है, तो अभी वह पर्याय कहाँ है, किसके आधार से है? निश्चय से तो पर्याय पर्याय के आधार से है। (परंतु) यहाँ यह अपेक्षा नहीं लेनी है। जिसके ऊपर पर्याय टिकी है ऐसा जो ध्रुव तत्त्व, उसका लक्ष्य कर, तो तुझे अनुभव होगा... आहा...हा! यह बहुत सूक्ष्म बात है! परंतु करने का तो यही है, बाक़ी सब तो कोरी बातें हैं।

—श्री 'समाधितंत्र'-श्लोक ७५-७६, प्रव. नं. ८८ (१३-७-७१) के प्रवचनांश

(२३)

'नियमसार' ३८वीं गाथा में कहा है न! यह ध्रुव, अभेद, शुद्ध, चैतन्यघन..... सो आत्मा; वहाँ पर्याय को नहीं लिया है। आहा...हा! ऐसा जो भगवान् पूर्ण स्वरूप चैतन्यदल, वह पर्याय में नहीं आता।

निहालभाई ने दर्पण का उदाहरण दिया है न! दर्पण है उसकी पर्याय में सब कुछ भासित होता है, परंतु जो (दर्पण) दल है, सो पर्याय में नहीं आता। आहा...हा! और पर्याय में सर्प, कोयला, अग्नि, बरफ़ आदि भासित होता है। यह है तो इसकी अपनी पर्याय, पर यह स्वयम् (दल) नहीं, जिसमें भासित होता है। पर इस पर्याय में पूरा चैतन्यदल नहीं आता, क्योंकि एकरूप वस्तु है। आहा...हा! ऐसी पर्याय में दल नहीं, दल तो दल में है। जिसको ऐसा भेदज्ञान नहीं—वह बंधन में है।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-७९-८०, प्रव. नं. ९३ (१८-७-७५) के प्रवचनांश

(२४)

(ज्ञानी को) वीतराग स्वभाव की दृष्टि है उतनी तो

वीतरागता दृष्टि-अपेक्षा है, अस्थिरता की अपेक्षा से ज्ञानी को राग आता है। आहा...हा! शरीर आदि के शृंगार का राग आता है। स्नान, शृंगार आदि भी करे। निहालभाई ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश') में आता है कि : अंतिम समय स्नान किया। मरने की घड़ी थी उनकी और आख़िर में स्नान किया। आता है, ऐसा विकल्प आ गया। हाँ, यह बात (पुस्तक की) प्रस्तावना में है। ऐसा विकल्प भी हो जाता है। आहा...हा! पर वे इसे दोष मानते हैं। लाभ के लिए करूँ—ऐसा भाव नहीं। आहा...हा! अस्थिरता के कारण शरीर, वाणी, आहार और पानी की अनुकूलता जुटाने का राग होता है परंतु अभिप्राय में यह स्वीकार नहीं।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-६१-६२, प्रव. नं. ७६ (३०-६-७५) के प्रवचनांश

(२५)

जैसे शरीर मेरा है, राग को अपना मानता है इसी प्रकार पर-लक्ष्य से हुआ क्षयोपशमज्ञान को अपना मानना—यह सभी देहात्मबुद्धि है। निहालभाई ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश') में ऐसे शब्द आते हैं कि : जैसे–जैसे क्षयोपशम बढ़ता जाता है वैसे–वैसे उसको मद बढ़ता जाता है। अभिमान बढ़ता जाता है कि, यह (क्षयोपशम) मुझे हुआ, मैं समझता हूँ, दूसरों की अपेक्षा अधिक जानता हूँ—ऐसे अंदर ही अंदर मद बढ़ता जाता है। आहा हा...! यह सब देहात्मबुद्धि है। आहा...हा! भाई! मार्ग बहुत ही अलग है।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-९३-९४, प्रव. नं. १०८ (२-८-७५) के प्रवचनांश

(२६)

दुनिया को चारित्रवान् बनाने का प्रयत्न रहता है। परंतु

पहले यह तो निर्णय करो कि : आप क्या कर सकते हो? क्या दूसरों का चारित्र सुधारना आपके अधिकार में है? अन्य को सुधारने का उत्साह क्यों? पहले यह तो निर्णय करो कि 'आप कौन हैं और क्या कर सकते हो'? पर को सुधारने का भाव भ्रमणा है। निहालभाई ने एक पत्र में, किसी पत्र के उत्तर में, यह बात कही है।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-७७-७८, प्रव. नं. ९० (१५-७-७५) के प्रवचनांश

(२७)

'श्रीमद् राजचंद्र' में आता है कि : मृत्यु के समय उन्होंने (अपने छोटे भाई को) कहा ''मनसुख! माँ को दुःखी मत होने देना, मैं स्वरूप में समाता हूँ''।—यह बात शब्दशः सत्य है। आहा...हा! उन्हें देह छूटने के समय दृष्टि–अनुभव वर्तता था। निहालभाई ने कहा कि 'श्रीमद्' ने जो बात कही, वह एकदम सही है। आहा! ''मुझे कोई सुनाओ'' ये सब विकल्प की बातें हैं। कोई सुनाए, तो समाधि हो—ऐसा नहीं है।

भगवान् आनंदस्वरूप ही है। मृत्यु-समय चारों ओर से विकल्प समेट कर स्वरूप में समाने की ही बात होती है।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक-९९, प्रव. नं. १४३ (७-८-७५) के प्रवचनांश

(२८)

निहालभाई ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश'–बोल १०१) में प्रश्न के उत्तर में आता है कि : स्त्री का विषय, देव–गुरु का विषय—दोनों परलक्ष्यी होने से समान ही है। तुलना कैसी की है! है वैसा ही कहें न! जो भगवान् के प्रति के उपयोग को योग्य (कर्तव्य) माने, वह मिथ्यादृष्टि है। 'समयसार' की ३१ वीं गाथा

में आता है कि : जो इन्द्रियजयी (सर्व विषयरहित) है, वह जीव है। जड इन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय—तीनों को ''इन्द्रिय'' कहा है। यह तो 'जिन' का कथन है। इस बात को जो (यथार्थ) जाने, वह 'जैन' है।

—श्री 'समाधितंत्र' श्लोक ९५-९७, प्रव. नं. ११० (४-८-७५) के प्रवचनांश

(२९)

क्रमबद्ध का जिसे निर्णय करना है वह सर्वज्ञ-स्वभावी का निर्णय करे तब उसे क्रमबद्ध के निर्णय का यथार्थ ज्ञान होता है। समझ में आया कुछ?

'सोगानी' में आता है, भाई! क्रमबद्ध....क्रमबद्ध करे परंतु सर्वज्ञस्वरूप का निर्णय नहीं, कर्ता होकर माने और क्रमबद्ध है वैसा माने, तो यह ग़लत है। यह 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में है। 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में इस तरफ़ है। (नम्बर) कहाँ याद रहे? भाव का ख़याल था कि, इस तरफ़ लिखा हुआ है। (पढ़ने में) आया हो तब ख़याल में आ गया हो। पन्ना याद नहीं रहा। ऐसा क्षयोपशम कहाँ है? आहा...हा! समझ में आया कुछ आहा...हा! क्या कहा? 'क्रमबद्ध' और दूसरा शब्द है 'होनेवाला है सो होगा, होनेवाला सो होगा', वैसे दो बोल हैं उसमें। वैसा कहनेवाला जिसने अबतक स्वयम् का ज्ञान किया नहीं, स्वयम् अकर्तारूप हुआ नहीं और 'होनेवाला है सो होगा' कहे, तो यह तो मात्र भाषा है। *—श्री 'प्रवचनसार'/गाथा : ४१ के प्रवचनांश*

(३०)

भाई ने लिखा है....निहालभाई ने कि : यहाँ के (प्रतिपादित तत्त्व) प्रकाशन का वाँचन कर कितने-ही प्रवचनकार हो गए हैं परंतु वास्तव में आत्मा के भान बिना उनकी बोली

काग-बोली जैसी लगती है। आहा...हा! यह तो (निहालभाई) मस्त 'माणस' (जीव) है, इनको दुनिया की क्या पड़ी है? यह बात कहीं लिखी है; बात का तो ख़याल है, बोल नम्बर याद नहीं। परंतु 'भाव' (स्पष्ट) ख़याल में है।

—श्री 'प्रवचनसार' गाथा : १७२, (जुलाई-१९७५) के प्रवचनांश

(३१)

प्रमाण में....यह प्रमाण के बोल में ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' में) आता है कि : प्रमाण के लोभ में (जीव) निश्चय को गौण कर देता है। भाई ने....सोगानी ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश') में आता है, कहीं (पुस्तक के) नीचे की ओर... बोल नम्बर तो याद कहाँ से रहे.... कि जीव को निश्चयाभास के भय से और प्रमाणज्ञान के लोभ में रहने से सत्यमार्ग दिखाई नहीं देता—यह मर्म की बात है। पर्याय को न माने, तो निश्चयाभास हो जाए और दोनों (द्रव्य व पर्याय) का ज्ञान न हो, तो (ज्ञान प्रमाण नहीं होगा) अतः प्रमाण ज्ञान करना चाहिए (ऐसा अभिप्राय रहता है)। 'केवल त्रिकाल द्रव्य स्वभाव के आश्रय से लाभ होता है'—ऐसे निश्चय का (उसे)निर्णय नहीं होता। प्रमाण के 'लोभ' व निश्चयाभास के 'भय' से.... ऐसे (विपरीत कारणरूप) दो बातें हैं। आहा...हा! मार्ग ऐसा है बापू!

जिसमें पर्याय ही नहीं....निमित्त की तो बात ही कहाँ है?....ऐसे द्रव्य का निर्णय–अनुभव करने हेतु 'मैं निश्चयस्वरूप केवल (ध्रुव) द्रव्य ही हूँ' (—ऐसा अभ्यास हो)। पर जीव को निश्चयाभास हो जाने का भय व प्रमाण का लोभ वर्तता है। पर्याय द्रव्य की है न! तो दोनों के ही ज्ञान के लोभ में (जीव) दृष्टि का ज़ोर नहीं कर सकता।

दूसरी बात भी कहीं आती है....इसी में ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश') ६०१वें बोल में लिखा है कि ''मैं निष्क्रिय त्रिकाली हूँ''—ऐसा चश्मा लगा कर देखने से सब गुण अपना (स्वाभाविक) कार्य करते हैं.... इसमें सहज ज्ञान और पुरुषार्थ हो जाता है। ('मैं') साधक-बाधक भाव नहीं—ऐसा चश्मा लगाने से, दृष्टि करने से, ध्रुव की मुख्यता में यथार्थ दिखता है। साधक-बाधक भाव पर्याय में हैं, मैं तो ध्रुव हूँ। परंतु ऐसा केवल 'ध्रुव हूँ....ध्रुव हूँ' करने से तो निश्चयाभास हो जाएगा और प्रमाण ज्ञान भी नहीं होगा। (मैं ध्रुव) पर्याय सहित हूँ....ऐसा मानता है; परंतु 'मैं' ध्रुव ही हूँ, आहा...हा! यही आत्मा है, त्रिकाली ध्रुव स्वभाव ही आत्मा है (—ऐसा अभ्यास होना चाहिए)।

—श्री 'प्रवचनसार' गाथा : १७२, (जुलाई-१९७५) के प्रवचनांश

(३२)

('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश' के ५८० वें बोल में) ऐसा आता है : देखो! अहो! (अंतिम पूरा पैराग्राफ) पर्याय....पर्याय है न! परंतु है तो, अब (क्या)? उसका लक्ष्य छोड़कर यहाँ द्रव्य का लक्ष्य करना है—ऐसी बात है। यह साधारण बात ही अभी के पण्डितों को चक्कर में डाल देती है। 'मात्र अपरिणामी हूँ' यों घोलन किए बिना उसे 'पूर्ण' तत्त्व की प्राप्ति (अनुभव) नहीं होती, दृष्टि वहाँ नहीं हो पाती।

—श्री 'प्रवचनसार' गाथा : १७२, (जुलाई-१९७५) के प्रवचनांश

(३३)

यहाँ कहते हैं कि : उपयोग चेतन के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ उपयोग जिसका लक्षण है उसके लक्ष्य से यह उपयोग उत्पन्न होता है, इस उपयोग को ज्ञेय का आलम्बन नहीं है।

निहालभाई ने ('द्रव्यदृष्टि-प्रकाश') में एक–दो जगह लिखा है (सो पढ़ा होगा) कि : पर में उपयोग जाता है, उसे अनउपयोग कहा है। ऐसा है न! कहीं लिखा है अवश्य। यह ऐसी तो उपयोग की बात आई। सुनने में जो उपयोग जाता है, उसे अनउपयोग कहते हैं। खाने की क्रिया, न खाने की क्रिया, आत्मा की क्रिया कहाँ है? खाने के काल में खाना होगा, सुनने का (उस काल में) विकल्प होगा ही। यहाँ तो सिद्ध यह करना है कि : आत्मा परावलम्बी नहीं है।

—श्री 'प्रवचनसार' गाथा : १७२, (जुलाई-१९७५) के प्रवचनांश

(३४)

अनंत–अनंत स्कंध इस प्रकार हुआ करते हैं, आकार भी भिन्न–भिन्न जाति के। गुब्बारा होता है न....! उसमें फूँक मारो, तो इतना (बड़ा) आकार हो जाता है। फूँक मारकर आकार किया है? नहीं; फूँक से आकार नहीं हुआ। आहा...हा! निहालभाई ने लिखा है (पत्रांक १४, 'द्रव्यदृष्टि-प्रकाश') कि : जैसे गुब्बारा फुलाते हैं वैसे चैतन्यघन भगवान् को पुरुषार्थ द्वारा फुलाना चाहिए पर्याय में! आहा...हा! वह तो चैतन्यघन है, रसकंद है। इसे पुरुषार्थ की फूँक मारकर पर्याय में फुलाना चाहिए। वहाँ गुब्बारे का उदाहरण दिया है।

—श्री 'प्रवचनसार'- गाथा : १६७, प्रव. नं. १९४ (१७-७-७५) के प्रवचनांश

(३५)

ज्ञायक भगवान् आत्मा इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आता। त्रिलोकीनाथ की दिव्यध्वनि—यह इन्द्रिय का विषय है, यह इन्द्रिय ही है, इसके द्वारा जानने में आए ऐसा आत्मा नहीं है।

यहाँ तो वीतराग की वाणी और वीतराग (भगवान्) स्वयम् (अपने लिए) इन्द्रिय ही (गिने जाते) हैं। इससे जाना जाए....आत्मा ऐसा नहीं है, क्योंकि उनको तो 'इन्द्रिय' ही कहा न! आहा...हा! आचार्य यह क्या कहते हैं!! निहालभाई ने यह बात थोड़ी ख़ोलकर कही तो ये....भडके! आहा...हा! बापू! तुझे ख़बर नहीं है। वैसी समझ तुझे अहित का कारण है भाई! उस (मान्यता) से तुझे नुकसान है।

—श्री 'प्रवचनसार' - गाथा : १७२, (जुलाई-१९७५) के प्रवचनांश

❁

- ✻ पदार्थ का सहज स्वभाव अविकृत होता है।
- ✻ जिनवर और जीव में अंतर नहीं।
- ✻ ज्ञान और राग एकमेक नहीं है।
- ✻ मैं तो चिन्मय अखण्ड़ ज्योतिस्वरूप हूँ, पर्याय रूप नहीं।
- ✻ पर्याय द्रव्य का आश्रय करती है, लक्ष्य करती है, इससे पर्याय शुद्ध होती है।
- ✻ आनंद सहित के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।
- ✻ चैतन्य आत्मा से प्रेम करना, निर्विकल्प शांति द्वारा आत्मा को देखना, वह धर्म है।

—पूज्य गुरुदेवश्री

✻ पूज्य गुरुदेवश्री का मुमुक्षुगणसहित राजकोट के विहारकार्य का सुंदर धर्मप्रभावनापूर्वक पूर्ण होना जानकर इस बात की प्रतीति होती है मानो नायकसहित सर्व संघ का निश्चय-प्रभावनारूपी कार्य भी शीघ्र व निर्विघ्न रीति से पूर्ण होनेवाला है। आपश्री का निश्चित स्थान, सोनगढ़ का आगमन इस बात का द्योतक होता है मानो हम सबकी परिणति का त्रिलोकरूपी राजकोट का विहाररूपी भ्रमण समाप्त होकर निश्चित अविनाशी स्वस्थान—अमृतमयी चैतन्यलोक आत्मगढ़—में आगमन हो रहा है, जहाँ कि सहज आनंद से तरंगित सहज आत्मरमणरूपी विहार सादि-अनंतकाल तक स्वाभाविक ही होता रहेगा।

✻ प्रदेशे-प्रदेशे मैं मात्र चैतन्य-चैतन्य व आनंद ही आनन्द से ओतप्रोत वस्तु हूँ। स्वरूपरचना पर्याय में स्वतः ही हुए जा रही है। इच्छा तोड़ूँ, स्वरूप की वृद्धि करूँ आदि विकल्पों का जिस सहज स्वभाव में सहज-ही अभाव है। अरे! सहज शुद्धपर्याय का भी जिस त्रिकाली ध्रुव वस्तु में सहज-ही अभाव है, ऐसी नित्य वस्तु मैं हूँ, त्रिकाली परिपूर्ण हूँ—ऐसी दृष्टि एकबार अवश्य-अवश्य हो जाओ—बस! सुखसमुद्र का दरिया एकदम सहज उमड़ पड़ेगा। पर के लिए विकल्प करना बेकार है। अरे! मैं बिना किसी के ही अभी-ही परिपूर्ण हूँ, एकबार ऐसी तीव्र भावना होनी चाहिए, ताकि सामान्य वस्तु के बोध का अवसर आए। पर में सावधानीपणा नहीं, स्व में सावधानीपणा होना चाहिए।

✻ अरे द्रव्यसामान्य! तेरे प्रताप से झुकती हुई पर्याय भी सहज खड़ी हो जाती है; अनादि का बोझा प्रतिक्षण हटता जाता है; उत्तरोत्तर सुख की वृद्धि होती जाती है...धन्य है तेरा बोध!

ॐ

परमात्मने नमः

द्रव्यदृष्टि प्रकाश

(तृतीय खण्ड)

तत्त्व-चर्चा

अप्रतिम पुरुषार्थी, एकभवावतारी, द्रव्यदृष्टि-प्रधानी
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी के साथ हुई
मुमुक्षुओं की आध्यात्मिक चर्चा।

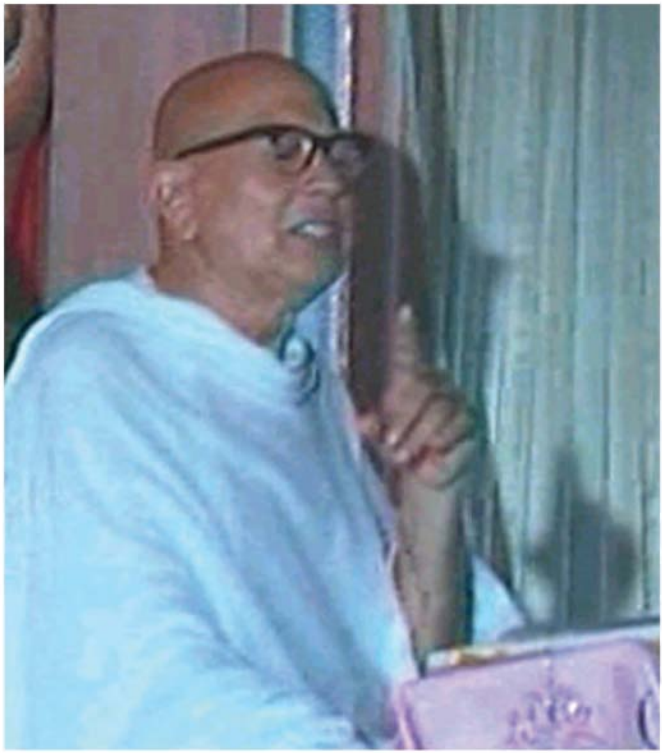

पूर्व उदय के योग से मैं आप जैसे पुण्यशालियों की तरह श्रीगुरुदेव के समीप रहकर उनके संग का, उनके वचनामृत का निरंतर लाभ नहीं ले सक रहा हूँ, इसका मुझे महान्-महान् खेद होता है। साथ-ही उनके बोध द्वारा बोधित मुझे यह संतोष भी होता है कि, निश्चय से सत्गुरुदेव मुझसे दूर नहीं हैं—जहाँ मैं हूँ वहाँ ही मेरे गुरु हैं, अतः मैं मुझमें मेरे गुरुदेव को देखने का सतत प्रयत्न करता रहता हूँ और जब-जब गाढ़ दर्शन होता है तब-तब अपूर्व-अपूर्व रसास्वाद का लाभ लेता रहता हूँ, मानसिक विकल्परूपी भार से हलका होता रहता हूँ, सहज ज्ञानघन स्वभाव में वृद्धि पाता रहता हूँ। सोनगढ़ की चिन्मय, भव्य, दिव्यमूर्ति को अधिक समीप होकर गहन दृष्टि से देखता रहता हूँ।

– निहालचंद्र सोगानी

ॐ

श्री सद्‌गुरुदेवाय नमः

'परिणाम योग्यतानुसार हो जाता है; मैं वो नहीं।'—इसमें किसी को ऐसा लगे कि, क्या परिणाम जड में होता है? अथवा निश्चयाभास-सा लगता है। लेकिन ऐसा कहने में तो 'अपरिणामी' का ज़ोर बताना है। १.

*

प्रश्न : आप शुद्धपर्याय को दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं या ज्ञान की अपेक्षा से?

उत्तर : दृष्टि की अपेक्षा से भिन्न कहते हैं; ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। दृष्टि करने के प्रयोजन में भिन्नता का ज़ोर दिए बिना दृष्टि अभेद नहीं होती; इसलिए दृष्टि की अपेक्षा से ही भिन्न कहते हैं। और अपनी तो यहीं 'दृष्टिप्रधान' शैली है, सो ऐसे ही कहते हैं। २.

*

निर्विकल्प होते ही अपने में से ही एक ज्ञान उघड़ता है, जो दोनों पड़खों को सहज जान लेता है, उसी को प्रमाणज्ञान कहते हैं। ३.

*

'परिणाम' और 'त्रिकाल अपरिणामी'—दो मिलकर ही पूर्ण

एक वस्तु है, जो प्रमाण का विषय है। वेदांतादि तो केवल निष्क्रिय.....निष्क्रिय कहते हैं, वे परिणाम को ही नहीं मानते हैं; तो निष्क्रिय भी जैसा है वैसा तो उनकी मान्यता में भी नहीं आता। यहाँ तो परिणाम को गौण करके निष्क्रिय कहा जाता है। ४.

*

एक चक्र के अनेक पासे (पहल) हैं, सभी पासे अलग-अलग डिज़ाइन के हैं। जब किसी एक पासे की बात चलती हो, तब दूसरे पासे की बात नहीं समझनी चाहिए। ऐसे वस्तु के अनेक धर्मों में से भिन्न-भिन्न धर्मों की बात चलती हो, तब एक को दूसरे में मिलाकर, घोटाला नहीं करना चाहिए। ५.

*

जब शुद्धपर्याय बहिर्तत्त्व है, ध्यान बहिर्तत्त्व है, तब ध्रुवतत्त्व अंतःतत्त्व है। जब दो घर की बात चलती हो, तब उसमें तीसरे घर की टाँग (बात) ड़ालने से घोटाला हो जाता है।

ध्रुवतत्त्व अंतःतत्त्व है, तब शुद्धपर्याय बहिर्तत्त्व है। शुद्धपर्याय को अंतःतत्त्व कहें, तब अशुद्धपर्याय को बहिर्तत्त्व कहते हैं। अशुद्धपर्याय को अंतःतत्त्व कहें, तब कर्म को बहिर्तत्त्व कहते हैं। कर्म को अंतःतत्त्व कहें, तब नोकर्म को बहिर्तत्त्व कहते हैं।—ऐसे (अपेक्षित विवक्षानुसार) सब घटा (समझ) लेना। ६.

*

सिद्ध से भी मैं अधिक हूँ; क्योंकि सिद्ध तो एक समय की पर्याय है; और मैं तो ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायों का पिण्ड हूँ। ७.

*

मैं अपरिणामी हूँ और पलटना मेरा धर्म ही नहीं है,
वह तो परिणाम का धर्म है ।

जैसे मेरुपर्वत अड़िग है; मैं भी वैसे-ही अडिग हूँ। मेरु में तो परमाणु आते–जाते हैं; लेकिन मेरे में तो कुछ-भी आता–जाता नहीं—ऐसा मैं अडिग हूँ। ८.

*

'मैं वर्तमान में ही मुक्त हूँ, आनंद की मूर्ति हूँ, आनंद से भरचक समुद्र ही हूँ'—ऐसी दृष्टि हो, तो फिर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या?

मेरे को तो वर्तमान में ही आनंद आ रहा है फिर पर्याय में तो मोक्ष होगा ही। लेकिन मेरे को तो उससे भी प्रयोजन नहीं। ९.

*

कुछ करना, सो मरने बराबर है। मुझे शुरू से ही कुछ करने के भाव में मरने जैसा बोझा लगता था। शुभपरिणाम होते (तो) मैं भट्ठी में जल रहा हूँ—ऐसा लगता था।

समुद्र के जल में से एक बूँद उड़कर बाहर पड़े, तो उस बूँद को रेत चूस कर ख़त्म कर देगी; और यदि गर्म रेत हो, तो बूँद तुरत ख़त्म हो जावेगी। वैसे-ही परिणाम बाहर की ओर जाए (तो) उसमें दुःख ही दुःख है। (अंगत) १०.

*

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो शुद्धपर्याय भी परद्रव्य है। जब मेरे अस्तित्व में वो (शुद्धपर्याय) नहीं, तो फिर राग की तो बात ही क्या? ११.

*

पर्याय में तीव्र अशुभपरिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपर्याय हो, मेरे में कुछ-भी बिगाड़ सुधार नहीं होता, मैं तो वैसा का वैसा ही हूँ। १२.

*

केवलज्ञान से भी हमारे प्रयोजन नहीं; मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं; वो तो हो ही जाता है। १३.

*

ज्ञान का विषय दृष्टि के विषय का प्रयोजन साधने जितना-ही लक्ष्य में लेना ठीक है; बाक़ी उसका प्रयोजन नहीं है। १४.

*

सुन-सुन करके मिल जाएगा, यह दृष्टि झूठी है। (कार्यसिद्धि) अपने से ही होगी। सुनना, सुनाना, पढ़ना—ये सभी बेकार हैं; ये हों, तो भले हों; लेकिन उनका खेद होना चाहिए, निषेध आना चाहिए। १५.

*

मैं पहले तो सब सुन लूँ, जान लूँ, पीछे पुरुषार्थ करूँगा—ऐसे पीछेवाले सदा पीछे-पीछे ही रहेंगे। यहाँ तो वर्तमान इसी क्षण से ही करने की बात है। १६.

*

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने से संक्षेप में परिणाम मात्र अभूतार्थ है—ऐसा कहा है; चाहे तो परिणाम अशुभ हो, शुभ हो या शुद्ध हो। १७.

*

अपने परिणाम तक ही अपनी सीमा है; इससे आगे तो कोई द्रव्य जा ही नहीं सकता। १८.

*

परिणाम अपना है; तो भी उसको आप खुद ही पलट नहीं सकते। परिणाम में कर्ता–कर्मपने का धर्म है, इसलिए वो तो पलटेगा ही। जब दृष्टि बाहर झुकी है, दृष्टि का प्रसार अपने को छोड़कर बाहर में है, तो परिणाम भी बाहर झुकेगा। और यदि दृष्टि अपने स्वभाव की ओर है, तो परिणाम भी अपनी ओर झुकेगा।

अपने को तो परिणाम भी पलटाना नहीं है। मैं अपरिणामी हूँ और पलटना मेरा धर्म ही नहीं है, वह तो परिणाम का धर्म है। दृष्टि की अपेक्षा से शुद्ध परिणाम भी मेरे से अलग ही है; ज्ञान उसको अपना अंश जान लेता है। १९.

*

प्रश्न : प्रथम पात्रता का क्या स्वरूप है?

उत्तर : अपने द्रव्य में दृष्टि को तादात्म्य करना, प्रसारना। बाह्य में तादात्म्य कर रही दृष्टि को अपने में तादात्म्य करना, यही प्रथम पात्रता है। २०.

*

जब एक बार आनंद की घूँट पी ली, तब तो बार–बार वही घूँट पीने के लिए अपनी ओर आना ही पड़ेगा। दूसरी किसी जगह परिणति को रस ही नहीं आएगा; बार–बार अपनी ओर आने का ही लक्ष्य रहेगा, दूसरे सब रस उड़ जाएँगे। २१.

*

'पुरुषार्थ करूँ....पुरुषार्थ करूँ'—यह बात भी नहीं है। 'मैं वर्तमान में ही अनंत पुरुषार्थ का पिण्ड हूँ' (—ऐसे स्वाश्रय में) पर्याय द्रव्य की ओर ढल जाती है। इसलिए पर्याय की अपेक्षा से पुरुषार्थ करने का कथन आता है। २२.

*

'मैं स्वयम् ही वर्तमान में भगवान् हूँ'—भगवान् होना भी क्या है? अपने स्वभाव में दृष्टि का प्रसार होते, पर्याय मेरी ओर झुकते–झुकते, पर्याय में केवलज्ञान–सिद्धदशादि होती ही हैं; परंतु मुझे तो इससे भी प्रयोजन नहीं है। २३.

*

पहेले तो धारणा बराबर होनी चाहिए। लेकिन धारणा अंतर में उतरे तभी सम्यग्ज्ञान होता है। धारणा में भी इधर का लक्ष्य होना चाहिए। २४.

*

अपने त्रिकाली अस्तित्व में अपनापन होने से पर्यायबुद्धि छूट जाती है। २५.

*

विभाव तो मेरे से बहुत दूर है। यहाँ तो परिणाम भी मेरे से भिन्न है। मैं तो अपरिणामी हूँ, एक समय के परिणाम के साथ नहीं बहता। २६.

*

प्रश्न : द्रव्य को परिणामी कहें तो क्या हर्ज़ है?

उत्तर : 'परिणाम', 'परिणामी' कहने में थोड़ा शब्दफेर है।

परिणाम से परिणामी को बताने में भी परिणाम की ओर लक्ष्य चला जाता है। इसलिए 'परिणाम', 'परिणामी' नहीं, परंतु 'अपरिणामी' और 'परिणाम'—ऐसा कहो। २७.

*

शास्त्र में व्यवहार की कीतनी बातें जीव स्वच्छंद में नहीं चढ़ जाए, इस हेतु से होती हैं। तो जीव उन बातों को पकड़कर घोटाले में (एकांत में) चढ़ जाता है। २८.

*

मैं परिणाम में नहीं जाता। परिणाम सहज-ही मेरी ओर आता है। २९.

*

'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मुझे कुछ करना–धरना ही नहीं है'—ऐसी दृष्टि होनेपर, परिणाम में आनंद का अंश प्रकट होता है और बढ़ते–बढ़ते पूर्णता हो जाती है। ३०.

*

प्रश्न : शुद्ध परिणाम में द्रव्य व्यापक है कि नहीं?

उत्तर : पूरे द्रव्य की (प्रमाणज्ञान की) अपेक्षा से देखा जाए, तो द्रव्य परिणाम में व्यापक है। परंतु दृष्टि के विषय की अपेक्षा से तो अपरिणामी द्रव्य परिणाम में व्यापक नहीं है। ३१.

*

दृष्टि का विषयभूत द्रव्य एकांत कूटस्थ ही है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय एकांत अनित्य ही है। ३२.

*

प्रश्न : निर्विकल्प उपयोग में कैसा आनंद आता है?

उत्तर : निर्विकल्प उपयोग के सुख की तो क्या बात कहें!! लेकिन समझाने के तौर-से जैसे गन्ने के रस की घूँट पीते हैं, वैसे आनंद की घूँट एक के बाद एक चलती ही रहती है; उसमें से निकलने का भाव ही नहीं आता। ३३.

*

अशुभपरिणाम के काल में इस ओर का झुकाव मंद होता है। शुभपरिणाम के काल में इस ओर का थोड़ा ज्यादा झुकाव होता है। दृष्टि का झुकाव तो वैसा का वैसा ही है। लडाई के काल में बाहर लडाई की क्रिया होती है और राग में अशुभराग की क्रिया होती है; पर मैं तो मेरे में ही अचल रहता हूँ, मेरे में तो उस समय भी राग की क्रिया का अभाव है। ३४.

*

'मैं अडिग हूँ, किसी से डिगनेवाला नहीं हूँ'—ऐसा निश्चय होनेपर, निर्णय का फल आनंद आना चाहिए; तब ही निर्णय सच्चा है। ३५.

*

हर समय विकल्प से भेदज्ञान करना नहीं पड़ता, वो तो सहजरूप से हो जाता है। ३६.

*

दृष्टि द्रव्य में तादात्म्य हो जाने पर भी चारित्रपरिणति कुछ च्युत होकर पर की ओर चली जाती है, तो भी स्वरूपाचरण की च्युति नहीं होती। ३७.

*

(स्वरूप की) दृष्टि होनेपर भी चारित्रगुण की योग्यता ही ऐसी होने से चारित्रगुण पूरा (शुद्ध) नहीं परिणम जाता। श्रद्धागुण का स्वभाव ऐसा है कि एक ही क्षण में द्रव्य में पूरा का पूरा व्याप्त हो जाता है। चारित्रगुण का स्वभाव ऐसा है कि वह क्रम-क्रम से ही पूरा होता है।—ऐसे दोनों गुणों के स्वभाव ही अलग-अलग हैं। ३८.

*

जब दृष्टि अपने स्वरूप में तादात्म्य होती है तो थोड़े काल तक राग आता तो है लेकिन वह लँगड़ा हो जाता है, उसको आधार नहीं रहता। ३९.

*

मैं तो कभी-भी नहीं हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते हैं और जाते हैं, मगर मैं तो खूँटे की तरह अचलित ही रहता हूँ। ४०.

*

बहिर्मुख होने से ज्ञान खिलता नहीं और अंतर्मुख होने से भीतर से ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। अपनी ओर ही देखने की बात है। ४१.

*

(एक जिज्ञासु :) आत्मा को ही पकडने की बात है?

(भाईश्री :) पकड़ना क्या? 'मैं तो स्वयम् हूँ ही' पकड़ना-फकड़ना सब परिणाम की अपेक्षा से कहने में आता है। परिणाम अपनी ओर झुका, तो परिणाम की अपेक्षा से आत्मा को पकड़ा—ऐसा कहने में आता है। ४२.

*

अपने द्रव्य में दृष्टि तादात्म्य होते-ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है; तब ज्ञान सभी बातें (यथार्थपने से) जान लेता है। ४३.

*

जब अपनी ओर से खिसक कर बाहर जाने का ही निषेध है, तो अशुभ में जाकर पर में रस पड़ जावे तब तो दृष्टि अपने द्रव्य में रही ही कहाँ?—वह तो पर में चली गई। ४४.

*

''अनेकांत पण सम्यक् एकांत ऐवा निजपदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुए उपकारी नथी''—श्रीमद्जी का यह वाक्य मुझे बहुत प्रिय लगता है। ४५.

*

दूसरे से सुनना–माँगना सब पामरता है, दीनता है, भिखारीपना है। मेरे में क्या कमी है, जो मैं दूसरे से माँगूँ?? मैं तो स्वयम् ही परिपूर्ण हूँ। ४६.

*

''अहो! जे भावे तीर्थंकरगोत्र बंधाय ते भाव पण नुकसान कर्ता छे''—यह बात कहने की किसकी ताक़त है?–यह तो गुरुदेवश्री की ही सामर्थ्य है! ४७.

*

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से भी लाभ नहीं होता, तो फिर और किससे लाभ हो? वह भी अपने को छोड़कर, एक भिन्न विषय ही है। ४८.

*

विकल्प से और मन से किया हुआ निर्णय सच्चा नहीं। अपनी ओर दृष्टि को तादात्म्य करनेपर ही अपने से किया हुआ निर्णय सच्चा होता है। पहले विकल्प से–अनुमान से निर्णय हो, उसमें भी लक्ष्य तो अंतर में ढलने का ही होना चाहिए। ४९.

*

मैं तो अडिग हूँ, किसी से डिगनेवाला नहीं हूँ। जैसे इस देहाकार में स्थित आकाश अडिग है, हिलता–चलता नहीं; वैसे-ही मैं भी अडिग हूँ। ५०.

*

अंतर में आनंद की घूँट पीते हुए बाहर में आना गमे (रुचे) ही किसको?? बाहर में आते-ही तो बोझा लगता है। ५१.

*

प्रश्न : चतुर्थ गुणस्थान में अनुभव कितने समय के अंतराल में होता होगा?

उत्तर : ऐसे अनुभव के अंतराल की कोई मर्यादा नहीं है। वह तो यदि विशेष अशुभ में हों, तो (सामान्यतया) अंतराल लम्बा भी हो जाए, और शुभ में हों, तो जल्दी–जल्दी भी अनुभव होवे। किसी को महीने में दश बार भी हो। ५२.

*

'चैतन्य गठरी मैं ही हूँ'—ऐसी पकड़ हो जाने से मति–श्रुतज्ञान अंतर में ढ़ल जाता है; इसलिए अंतर में ढ़लने के लिए कहने में आता है। ५३.

*

मैं वर्तमान में ही समझण का पिण्ड हूँ। ५४.

*

सम्यग्दृष्टि को दुःख का वेदन होता है लेकिन अपने स्वभाव की अधिकता के वेदन में, उस वेदन की गौणता हो जाती है। ज्ञान में शांति के वेदन के साथ-साथ दुःख का वेदन आता है परंतु वह वेदन मुख्य नहीं होता। ज्ञानी को अपने स्वभाव की ही अधिकता रहती है, अपने स्वभाव की अधिकता कभी नहीं छूटती। ५५.

*

जब दृष्टि अपने स्वभाव में प्रसर जाती है, तब पाँचों समवाय अपने ज्ञान में ज्ञेय हो जाते हैं। ५६.

*

अज्ञानी उत्पाद-व्यय के साथ-साथ चलता जाता है परंतु ज्ञानी ने नित्य में अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद-व्यय के साथ नहीं चला जाता, किंतु उत्पाद-व्यय को जान लेता है। ५७.

*

ज्ञान की पर्याय आती है अंदर से। परंतु (अज्ञानी को) बाहर का लक्ष्य होने से ऐसा दिखता है कि मानो पर्याय बाहर से आती हो, इसलिए अज्ञानी को पर से ज्ञान होता है ऐसा भ्रम हो जाता है। ५८.

*

अनंत तीर्थंकर हो गए, लेकिन अपने तो गुरुदेवश्री ही सब

से अधिक हैं। जैसे कि : अपने को धन की ज़रूरत हो और कोई लखपति अपनी ज़रूरत-अनुसार धन दे देवे, तो वह अपने लिए तो अन्य करोड़पति से भी अधिक है। ऐसे ही, गुरुदेवश्री अपने लिए तो तीर्थंकर से भी अधिक हैं, अपना हित तो इनसे हुआ है। (अंगत) ५९.

*

द्रव्यलिंगी होकर ग्यारह अंग तक पढ़ लेते हैं, परंतु त्रिकाली चैतन्यदल में अपनापन स्थापित नहीं करते;—यही भूल है, दूसरी कोई भूल नहीं। ६०.

*

पू. गुरुदेवश्री ने शास्त्र पढ़ते समय कहा कि : जैसे व्यापार में बही के पन्ने फेरते हैं वैसे-ही ये पन्ने हैं, कोई फ़र्क़ नहीं; यदि इधर की दृष्टि नहीं, तो दोनों समान हैं। ६१.

*

तीर्थंकर-योग और वाणी मिली, तो ठीक है, भविष्य में भी इसी भाव से मिलेगी—ऐसे उसमें हौंस (उत्साह-रस) आता है, तो उससे कैसे छूटेगा? लाभ मानता है, तो कैसे छोड़ेगा? इससे (ऐसे भाव से) नुकसान ही है, लाभ नहीं। लाभ तो अपने से ही है, वर्तमान से ही खुद से लाभ है—ऐसा ज़ोर न होवे, तो पर में अटक जाएगा। ६२.

*

प्रश्न : आत्मानुभव होने के बाद ज्ञानीजीव न्याय-नीति से धनादि की प्रवृत्ति करते हैं न?

उत्तर : करना-धरना नहीं रहा। जो पर्याय आनेवाली है, वह

योग्यतानुसार आ जाती है। परंतु उधर उसका लक्ष्य नहीं, लक्ष्य तो इधर का है। अंतर में एकत्व हुआ, तो परिणाम मर्यादित हो जाते हैं। लेकिन मर्यादित ही होता है....होता है—ऐसा कहने से, उसकी दृष्टि में परिणाम को मर्यादा में रखने का ही प्रयत्न रहता है, अर्थात् परिणाम को ही देखता रहता है; और परिणाम की मर्यादा को देखते रहने से अपरिणामी का ज़ोर छूट जाता है। इसी लिए कहते हैं कि : जो परिणाम होनेवाला है, वो हो जाता है। ६३.

*

तीव्र प्यास (जिज्ञासा) लगनी चाहिए। प्यास लगे, तो जैसे-तैसे बुझाने का प्रयत्न किए बिना रहे ही नहीं। ६४.

*

प्रश्न : अनुभव के लिए विचार-मनन-घूँटण में रहना चाहिए?

उत्तर : पर्याय में बैठकर (—पर्याय में 'मैं-पना' रखकर अर्थात् पर्याय में अस्तित्व की स्थापना करके) घूँटण-मनन करने में पर्याय में ठीकपना (संतोष) रहता है। और द्रव्य में बैठने से (—द्रव्य में अस्तित्व स्थापित करने से) घूँटण-मनन सहज होता है; घूँटण आदि में ज़ोर नहीं रहता, सहज होता है; ज़ोर तो इधर का रहता है। पर्याय में बैठकर घूँटण आदि करने से अंदर में नहीं आ सकते। ६५.

*

मुझे पहले से इन्द्रियविषयों की ओर का रस नहीं था और विकल्पों में कषाय की भट्टी जलती हो ऐसा लगता था; ऐसे वेदन

में 'वो क्या है.....क्या है' ऐसे विचारों की धुन में रहता था; मुझे शहर के ख़ास व परिचित रास्तों के अलावा किसी रास्ते आदि का पता नहीं था और कोई बात का ख़याल नहीं रहता था। विचार का ज़ोर पहले से ही था, उसमें तीक्ष्णता थी। दिगम्बरशास्त्र देखे, तो इधर से निकला और उधर क्रियाकाण्ड में पड़ा, परंतु उसमें भी कोई शांति नहीं मिली, वह भी छोड़ दिया। पीछे 'आत्मधर्म' देखते-ही चोट लगी और सब बात ख़याल में आने लगी। (अंगत)। ६६.

*

सब बात का मसाला गुरुदेवश्री ने तैयार कर रखा है; जिससे कोई बात बिचारनी नहीं पड़ती। नहीं तो, साधक हो फिर भी (उसे) मसाला तैयार करना पड़ता है। ६७.

*

प्रश्न : अनुभव होने के बाद परिणाम में मर्यादा आ जाती है न? विवेक हो जाता है न?

उत्तर : विवेक की बात एक बाज़ू रखो; एक दफ़ा विवेक को छोड़ दो! परिणाम मात्र ही मैं नहीं। मैं तो अविचलित खूँटा हूँ। मेरे में क्षणिक अस्तित्व है ही नहीं। विवेक के बहाने भी जीव परिणाम में एकत्व करते हैं। ६८.

*

(अज्ञानी) कषाय की मंदता में थोड़ा विषय छूटे, तो इसमें ठीक मानने लगते हैं; लेकिन वह भी तीव्र कषाय ही है, उसमें कषाय (रस) भरा पड़ा है। ६९.

*

प्रश्न : शुरुआतवाले को अनुभव के लिए कैसे प्रयत्न करना ?

उत्तर : मैं परिणाम मात्र नहीं हूँ। त्रिकाली-ध्रुवपने में अपनापन थाप देना, यही उपाय है। ७०.

*

प्रश्न : शास्त्र में तो प्रयत्न करना.....प्रयत्न करना, ऐसी बात आती है ?

उत्तर : प्रयत्न करने के लिए कहने में आता है; प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है। मैं तो पर्याय मात्र से भिन्न हूँ, प्रयत्न क्या करें ? सहजरूप होता है। प्रयत्न आदि का होना पर्याय का स्वभाव है। मैं उसमें न आता हूँ, न जाता हूँ। 'मैं त्रिकाली हूँ'—ऐसी दृष्टि में प्रयत्न सहज होता है। ७१.

*

विचार-मंथन भी थक जाएँ, शून्य हो जाएँ तब अनुभव होता है। मंथन भी तो आकुलता है। एकदम तीव्र धगश से अंदर में उतर जाना चाहिए। ७२.

*

प्रश्न : रामचंद्रजी को सीताजी के लिए लड़ने का भाव आया; परंतु धर्मराज (युधिष्ठिर) को द्रौपदी की साड़ी खींची जानेपर भी बचाने का भाव नहीं आया—इसका क्या कारण ?

उत्तर : वह तो परिणामों की योग्यता ही ऐसी भिन्न-भिन्न होती है। अनेक प्रकार के कषायभावों में से जो होनेवाले हैं, वो होते हैं; उनको करें-छोड़ें क्या ? सम्यग्दृष्टि को परिणाम मात्र से

भिन्नता रहती है। 'मैं करनेवाला ही नहीं हूँ'—ऐसा रहना ख़ास बात है। ७३.

*

शास्त्र में परिणाम देखने की बात आती है, तो (अज्ञानी) परिणाम देखते रहते हैं; ध्रुववस्तु रह जाती है। परिणाम को ही देखते रहने में परिणाम के साथ एकता होती है, परिणामी में एकता नहीं रहती—अनित्य में नित्य चला जाता है। पर्याय की शुद्धि ऐसी है.....ऐसी है—ऐसे पर्याय की बात में रस पड़ जाने से नित्य का ज़ोर नहीं रहता; पर्याय में ज़ोर करने की तो आदत पड़ी ही है। ७४.

*

आख़ी वस्तु (प्रमाण का विषय) बताने में नित्य और अनित्य बताने में आते हैं; इनमें अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य) का नहीं है, ऐसा बताने के लिए है। परंतु दृष्टि का विषय तो 'नित्य' ही हूँ है, और 'अनित्य' मेरे से भिन्न ही है। उसका (उत्पाद-व्यय का) भाव और मेरा (ध्रुव का) भाव विरुद्ध है। ७५.

*

शक्ति की तरफ़ देखे तो इतना भारी-भारी लगता है कि, सम्पूर्ण जगत् फिर जावे तो भी वह (अनंत शक्तियों का पिण्ड) नहीं फिर सकता है, ऐसा घनरूप है, उसमें कुछ विचलितता ही नहीं होती। ७६.

*

(अज्ञानी) परिणाम में बैठकर शक्ति को देखता है : 'शक्ति ऐसी है....ऐसी है।' उसमें तो देखनेवाला और शक्ति दो अलग-

अलग चीज़ हो जाती हैं। जैसे दूसरा दूसरे की बात करता हो वैसा हो जाता है। ७७.

*

दर्पण में जो पर्याय दिखती है, वह तो ऊपर-ऊपर है। अंदर में जो दल पड़ा है, वह तो जैसा का तैसा है, वह पर्यायरूप होता ही नहीं।—ऐसे त्रिकाली स्वभाव का दल वैसा का वैसा ही है, पर्याय में आता ही नहीं। ७८.

*

श्रद्धा में त्रिकालीपना आ गया, तो विकल्प से भिन्नता हो गई—वही मुक्ति है। चारित्र में मुक्ति हो जाएगी। ७९.

*

प्रश्न : वस्तुस्वभाव का लक्ष्य हो जानेपर कार्य होता ही है?

उत्तर : लक्ष्य और उसका ध्येय दूसरा होने से वस्तु दूसरी दिखती है, अतः लक्ष्य की पर्याय से देखना नहीं है। 'मैं ही स्वयम् वस्तु हूँ'—ऐसे देखने से लक्ष्य की पर्याय गौण हो जाती है, तो उस पर्याय पर वज़न नहीं जाता, मुख्यतया नहीं आती, उसमें मुख्यता तो त्रिकालीपने की रहती है। ८०.

*

बस! एक ही बात है कि 'मैं त्रिकाली हूँ' ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होनेवाली हो सो योग्यतानुसार हो जाती है, मैं उसमें नहीं जाता। क्षयोपशम हो, न हो; याद रहे, न रहे; परंतु असंख्य प्रदेश में, प्रदेश-प्रदेश में व्यापक हो जाना चाहिए। ८१.

*

प्रश्न : भगवान् की वाणी बहुत ज़ोरदार होगी?

उत्तर : वाणी में क्या ज़ोर होता है? अपने में ज़ोर हो, तो वाणी में ज़ोर का आरोप देते हैं। ८२.

*

द्रव्यलिंगी को त्रिकाली के प्रति उत्साह नहीं आता; उत्साह आता, तो 'त्रिकाली' हो जाता। ८३.

*

'कुछ करे नहीं, तो गमे नहीं' ऐसी आदत हो गई है। लेकिन 'कुछ करे, तो गमे नहीं' ऐसा होना चाहिए। ८४.

*

(आत्मा के लिए) रुचि की आवश्यकता चाहिए। दरकार होनी चाहिए। (विकल्पों से) थकावट होनी चाहिए। तीव्र प्यास (तालवेली) लगे, तो ढूँढ़े ही। ८५.

*

जहाँ तक अंदर में (आत्मा में) डुबकी नहीं मारता, वहाँ तक प्रयत्न चालू रखना चाहिए। ८६.

*

प्रश्न : रुचि बढ़ते–बढ़ते वस्तु की महत्ता बढ़ती जाती है और सुगमता भी ज़्यादा भासती है?

उत्तर : रुचि बढ़ती है, ऐसे लक्ष्य में भी पर्याय की महत्ता होती है। उसमें 'मैं-पना' दिखता है, तो त्रिकाली में नहीं जम सकते। यह तो विकल्पवाली रुचि है। 'मैं तो परिणाम मात्र से

भिन्न हूँ'—ऐसे त्रिकाली का अनुभव होना, वो ही अभेद की रुचि है। ८७.

*

कोई एकांत से वेदांत में खिंच नहीं जावे, इसलिए दोनों बातें बताई हैं। पर्याय दूसरे में नहीं होती, कार्य तो पर्याय में ही होता है;—ऐसा कहें, तो वहाँ चोंट जाते हैं—ऐसा तो है न! ऐसा तो होना चाहिए न! अरे भाई! क्या होना चाहिए? छोड़ दे सब बातें जानने की! मैं तो त्रिकाली ही हूँ, उत्पाद-व्यय कुछ मेरे में हैं ही नहीं। ८८.

*

प्रश्न : शुरुआतवाला विचार में बैठता है, तो 'मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ'—ऐसा करता है, तो घण्टा-आधा घण्टा में थकान लगती है, सो क्यों?

उत्तर : विकल्प में तो थकान लगे ही न! 'मैं ऐसा हूँ'—ऐसा अनुभव करने में शांति है। ८९.

*

एक ही 'मास्टर की' (Master key) है; सब बातों में, सभी शास्त्रों में एक ही 'सार' है : 'त्रिकालीपने में अपनापन जोड़ देना।' ९०.

*

आनंद के अनुभव में तो राग से भी भिन्न चैतन्य-गोला छुट्टा अकेला अनुभव में आता है, उसके आनंद की क्या बात करें!! अंदर से निकलना ही गमे नहीं, बाहर में आते ही भट्टी-भट्टी लगे। ९१.

*

प्रश्न : पक्के निर्णय बिना, 'मैं शुद्ध हूँ, त्रिकाली हूँ, ध्रुव हूँ', ऐसे-ऐसे अनुभव का अभ्यास करें तो, अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर : नहीं। पक्का निर्णय नहीं, लेकिन यथार्थ निर्णय कहो। यथार्थ निर्णय होने के बाद ही निर्णय में पक्कापन होता है, फिर अनुभव होता है। ९२.

*

प्रश्न : सामान्य का विचार तो ज़्यादा चले नहीं और विशेष के विचार में तो निर्विकल्पता होती नहीं ?

उत्तर : 'मैं शुद्ध हूँ, ऐसा हूँ'—ऐसे विकल्प करने की बात नहीं है। और विचार भी तो एक समय की पर्याय में होता है। यहाँ तो 'मैं ऐसा ही हूँ'—ऐसे त्रिकाली में अपनापन होकर, अनुभवपूर्वक परिणमन हो जाना चाहिए। विचार आदि तो पर्याय का स्वभाव होने से चलता ही है; परंतु ज़ोर ध्येय-स्वभाव की ओर रहता है, तो परिणति त्रिकाली की ओर ढल जाती है। ९३.

*

चौथा गुणस्थानवाला जीव द्रव्यलिंग धारता है फिर भी स्थिरता कम है, और पँचम् गुणस्थानवाला अशुभ में विशेष हो फिर भी स्थिरता विशेष है। क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले द्रव्यलिंगी को शुभभाव में रस अधिक है और बाह्य उपयोग भी अधिक है; जबकि पाँचवें गुणस्थानवाला अशुभभाव में अधिक होते हुए भी (उसे) अंतर में ढ़लन अधिक रहती है। ९४.

*

प्रश्न : चौथे गुणस्थानवाले को वस्तु का अनुभव है और

स्थिरता का प्रयत्न भी करता है फिर भी अनुभव में काल क्यों लगता है ?

उत्तर : चारित्र की पर्याय में इतनी अस्थिरता है, पुरुषार्थ की कमी है; पर्याय की ऐसी योग्यता है; लेकिन दृष्टि में उसकी गौणता है। 'वर्तमान में ही पूर्ण हूँ'—इसमें पर्याय की कमती-बढ़ती गौण है। ९५.

*

अज्ञानी पर्याय में ही अपनापन, संतोष, अधिकता आदि रखते हैं। पर्याय में उल्लास तो है न! पर्याय में विशेषता तो है न! पर्याय ने द्रव्य का माहात्म्य तो किया न! पर्याय अंतर में तो ढलती है न! —ऐसे-ऐसे किसी न किसी प्रकार से पर्याय में ही वज़न रखते हैं। लेकिन पर्याय से हटकर, 'मैं तो त्रिकालीदल जैसा का तैसा हूँ, परिणाम मात्र मेरे में नहीं है'—ऐसे ध्रुवपने में अधिकता नहीं थापते। कारण कि वेदन में तो पर्याय होती है, और द्रव्य तो अप्रकट है; अप्रकट को तो नहीं देखते हैं, पर्याय में ही अपनापन रखते हैं।

लेकिन, यहाँ तो कोई-भी पर्याय हो—सुख अनंत हो या ज्ञान अनंत हो या वीर्य अनंत हो—तो भी मुझे कुछ परवाह नहीं। मैं तो स्वभाव से सुखस्वरूप ही हूँ, ऐसे ध्रुव स्वभाव में ही अधिकपने का वेदन करने का है और शुद्धपर्यायों को भी गौण करना है, गौणपने वेदन करना है। ध्रुव वस्तु में 'मैं-पना' स्थापित किए बिना, पर्याय से एकत्व नहीं छूट सकता। ९६.

*

इस अपेक्षा से नित्य हूँ, इस अपेक्षा से अनित्य हूँ, ऐसे दोनों ही ठीक हैं—ऐसे (अज्ञानी) कहते हैं। अरे! 'मैं नित्य ही

हूँ'—ऐसा ज़ोर देना तो भूल गया। तो क्या रहा?—अनादि का जो था, वो ही रहा। ९७.

*

विचार–मनन से वस्तु प्राप्त नहीं होती है। क्योंकि ये पर्याएँ बहिर्मुखी, मन के संगवाली हैं; वस्तु अंतर्मुख–ध्रुव है। ९८.

*

चैतन्यदल में—असंख्य प्रदेश में—प्रसर जाने से पर्याय दिखती ही नहीं है; (अर्थात्) ऐसी पर्याय को छोड़कर, ऐसी पर्याय करूँ—ऐसा नहीं होता। पर्याय में साम्यभाव आ जाता है। ९९.

*

प्रश्न : ''किसी जीव के अलावा, सामान्यतः सभी जीवों को मार्ग के क्रम का सेवन करना पड़ता है'' (श्रीमद् राजचंद्रजी का बोल)। —इसमें क्या कहना है?

उत्तर : क्या क्रम? कोई जीव सीधा अनुभव करके वस्तु को पकड़ लेता है। और बहुत से जीवों की परिणति चँचल होती है, इसलिए धीरे–धीरे शास्त्र आदि में रुकते–रुकते इधर ढलते हैं, इसे क्रम का सेवन कहा। १००.

*

भगवान् की वाणी सुनने में अपना नाश होता है। जैसे स्त्री का विषय है वैसे यह भी विषय है। १०१.

*

असल में बात तो यह है कि : सुनने में जो माहात्म्य आता है वह नहीं; किंतु अंदर से सहजरूप से (स्व का) माहात्म्य

आना चाहिए। (बाहर में) तीव्र थकावट हो, तो माहात्म्य अंदर से ही आता है। १०२.

*

अपरिणाम में सदा ज़ोर आना चाहिए। परिणाम में विकल्प से हटने का और आह्लादरूप अनुभव में जाने का भाव होता है, लेकिन अधिकता इसमें नहीं, अधिकता तो त्रिकाली में ही रहनी चाहिए। १०३.

*

श्रवण–वाँचन आदि तो सब ऊपर–ऊपर की बातें हैं; अंदर में से सहजरूप (भाव) आना चाहिए। १०४.

*

यहाँ तो दातार हो जाने की बात है। यहाँ से (दूसरे उपदेशदाता से) ले लूँ, ऐसी बात ही नहीं। एकबार लाभ मिला, तो दूसरी बार भी लाभ मिल जाएगा, यह प्रत्यक्ष लाभ मिल रहा है न! ऐसे–ऐसे करके (अज्ञानी) उसमें ही रुक जाता है। अंदर के दातार की बात तो रही नाम मात्र, और बाहर के दातार की मुख्यता!! १०५.

*

शास्त्र में बात आए कि बर्फ़ के संयोगसे पानी ज़्यादा ठण्डा होता है; ऐसे अधिक गुणवान् के संग में रहने से ज़्यादा लाभ होता है;—ऐसा सुननेपर, वहाँ अज्ञानी चौंट जाता है। असंग की बात छोड़ दी! गुणहीन का संग छोड़कर गुणवान् का संग किया, परंतु असंगता रह गई। १०६.

*

शास्त्रों में अनेक तरह के कथन आते हैं, तो अज्ञानी इनमें उलझ जाता है। लेकिन 'निश्चय की बात मुख्य करके, निमित्त का ज्ञान करने का है' यह भूल जाता है। क्योंकि अनादि से संग का अभ्यास है न! इससे एक संग (अशुभ) छोड़कर दूसरा संग (शुभ का) पकड़ लेता है। १०७.

*

अनुभव की बात तो क्या कहें!! एक दफ़ा तो बिजली के करंट के माफ़िक अंदर में उतर जाना चाहिए। जैसे करंट का काल थोड़ा, फिर भी सारा शरीर झनझना उठता है; उसी तरह असंख्य प्रदेश में आनंद-आनंद हो जाता है। पीछे शुभाशुभ विकल्प आते हैं, परंतु अनुभव में से छूटना न चाहें तो भी छूट जाते हैं। छूट जाए तो छूटो मगर 'मैं तो यह (त्रिकाली आत्मा) ही हूँ।' १०८.

*

सब शास्त्र पढ़ लेवें, तो भी अनुभव बिना उसका भाव ख़याल में नहीं आता। 'सब अपेक्षा तो जान लेवें,' ऐसे (अज्ञानी) उसमें (जानपने में) ही फँस जाते हैं। १०९.

*

त्रिकाली का ज़ोर नहीं, तो क्षणिक शुभाशुभ में पूरा का पूरा चला जाता है। क्षणिक दुःख आया, तो त्रिकाली दुःख मानने लगे; क्षणिक सुख आया, तो त्रिकाली सुख मानने लगे। और जो त्रिकाली में अपनापन हुआ, तो क्षणिक पर्याय जो योग्यतानुसार होनेवाली है वह हो, मैं उसमें नहीं खिसकता। ११०.

*

निर्विकल्प अनुभव होते-ही ज्ञाता–द्रष्टा हो सकता है। [सिर्फ़] ऐसे विकल्प से ज्ञाता मानकर, 'होनेवाला था, सो हुआ' ऐसा मानकर [ऐसे] समाधान में (जो) सुख मानता है, वह (सुख) तो जैसा : अघोरी मांस खाने में, सूअर विष्टा खाने में, पतंगा दीपक में सुख मानता है, वैसा है। निर्विकल्प अनुभव बिना धारणा में ठीक मानना, सुख मानना, यह तो कल्पना मात्र है; वास्तविक सुख नहीं। १११.

*

पूज्य गुरुदेवश्री ने इतना स्पष्ट कर दिया है कि, कमी नहीं है, सूक्ष्म पहलुओं का भी पूरा–पूरा खुलासा किया है। ११२.

*

योग्यता हो, तो सुनते-ही सीधे अंदर में उतर जाते हैं, इसलिए कहते हैं कि 'ऐसी उनकी काललब्धि'। तो अज्ञानी कहता है कि : अरे! पुरुषार्थ को उड़ा दिया! पर, अरे भाई! पुरुषार्थ इससे जुदा थोड़े-ही है?! कोई स्वच्छंदता न कर लेवे, इसलिए 'पुरुषार्थ करना' ऐसा कहा है। त्रिकाली में अपनापन होने में पुरुषार्थ होता ही है। लेकिन यह पर्याय जितना मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रिकालीदल ही हूँ। ११३.

*

जो निर्विकल्पता होती है, उसमें तो पूरा जगत्, देह, विकल्प, उघाड़ (क्षयोपशम ज्ञान) आदि कुछ दिखता ही नहीं; एक खुद ही खुद दिखता है। अंदर में जाए, तो बाहर का कुछ दिखे ही नहीं। ११४.

*

अरे भाई! तू अपने सारे के सारे असंख्य प्रदेश में चैतन्यमूर्ति हो, उसी में बैठे रहो न! उठकर कहाँ जाते हो? ११५.

*

'शास्त्र से ज्ञान नहीं होता' ऐसा सुने और 'बराबर है' ऐसा कहे; परंतु अंदर में (अभिप्राय में) तो ऐसा मानता है कि 'बाहर से ज्ञान आता है।' 'वाणी से लाभ नहीं' ऐसा कहे, लेकिन मान्यता में सुनने से प्रत्यक्ष लाभ होता दिखे, तो थोड़ा तो सुन लूँ, इसमें क्या नुकसान? अरे भैया! इसमें नुकसान ही होता है, लाभ नहीं। ऊपर से नुकसान कहे और अंदर में लाभ मानकर प्रवर्ते, यह कैसी बात! अज्ञानी उसमें अटक जाते हैं। ११६.

*

प्रश्न : रुचि क्यों नहीं होती?

उत्तर : ज़रूरत दिखे, तो अंदर में आए बिना रहे ही नहीं। सुनते हैं, प्रसन्नता आदि होती है, लेकिन सुख की ज़रूरत हो, तो अंदर आवे। ज़रूरत न हो, तो वहाँ (प्रसन्नता आदि में) ही ठीक माने। लाभ है, नुकसान तो नहीं न! (—ऐसा भाव रह जाता है।) ११७.

*

(जिसको) विकल्प की भूमिका में भी निर्णय नहीं होता, उसको निर्विकल्प निर्णय होने का अवकाश ही कहाँ है? ११८.

*

इ.....त....नी लगन रहती है कि, मैं कब एकांत में बैठूँ। एकांत में बैठने की लगन रहती है फिर-भी एकांत नहीं मिले,

तो वैसे ही अंदर में एकांत बना लेता हूँ। एकांत न मिले, तो इसके लिए तड़पता नहीं। (अंगत)। ११९.

*

जैनदर्शन ही एक ऐसा है कि : जो वीतराग होने से दूसरे को अपने समान बना लेता है, यह इसकी मूल विशेषता है। दूसरे मतवाले शिष्य को बहुत कुछ दे देवें, किंतु पूरा तो नहीं देते, क्योंकि वे कषाययुक्त हैं। १२०.

*

प्रश्न : द्रव्यलिंगी इतना स्पष्ट जानकर (भी) क्यों त्रिकाली में अपनापन नहीं करता?

उत्तर : उसको सुख की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि उसको एक समय की उघाड़-पर्याय में संतोष है, सुख लगता है, तो (वह) त्रिकाली को क्यों पकड़े? १२१.

*

असल में तो (विकल्प मात्र में) तीव्र दुःख लगना चाहिए। जो तीव्र दुःख लगे, तो सच्चे सुख के बिना संतोष हो नहीं सकता। दुःख की वेदना सुख को शोधे बिना रहती ही नहीं। १२२.

*

निर्विकल्प आनंद की तो बात क्या करें!! विकल्प के समय में भी सुख और शांति तो बढ़ती ही रहती है फिर भी, निर्विकल्प आनंद तो इससे भी बहुत ऊँचे दर्जे का है; इस आनंद में से छूटने से तो इतना दुःख ही दुःख होता है कि : जैसे बर्फ़ में पड़ा हुआ बर्फ़ से छूटकर अग्नि मे प्रवेश करे, तो जैसा दुःख होता है, वैसा

निर्विकल्प में से निकलनेपर होता है। (इसी से) तो निर्विकल्प में जाने की लगन रहती है। (अंगत)। १२३.

*

आख़िर कितना-भी सुन लो, लेकिन सुख तो यहाँ से ही शुरू होता है। यह थोड़ा सुन तो लूँ, इसमें क्या नुकसान है? पीछे अंदर में जाऊँगा—यह बात ठीक नहीं है। और एक समय की ज्ञानपर्याय में विचार कर-करके भी क्या मिलेगा? त्रिकाली की ओर ज़ोर देने से ही क्षणिक पर्याय की एकता छूटकर सुख मिलेगा। १२४.

*

प्रश्न : वर्तमान ज्ञानवेदन ख़याल में आता है वैसे त्रिकाली सत् ख़याल में क्यों नहीं आता है? उघाड़ में तो युक्ति आदि से आता है, लेकिन अंदर से ख़याल में क्यों नहीं आता?

उत्तर : जो उघाड़ में न्याय से ख़याल में आया, तो (वो) ख़यालवाली ज्ञानपर्याय भी तो कोई आधार पर खड़ी है; तो वह आधारवाली वस्तु क्या है?—ऐसे देखकर, उस आधारवाली शक्ति में ही थँम जाना-प्रसर जाना, वो ही सत् स्वभाव है। १२५.

*

ये (चार) गतियों की बात तो बहुत स्थूल है। यहाँ तो सिद्ध-गति और सिद्ध-पर्याय से भी अधिक में (ध्रुव में) अपनापन करने की बात है। १२६.

*

प्रश्न : पर्याय से छूटें कैसे?

उत्तर : पर्याय से तो छूटे हुए ही हैं। त्रिकाली तो पर्याय

में आता ही नहीं। लेकिन पर्याय में एकता कर रखी है वह एकता, त्रिकाली में थापने की है। १२७.

*

ज्ञानी को तो त्रिकाली में ही अपनापन होने से (उसे) वाँचन, श्रवण, पूजन आदि में भी अंदर से (शुद्धि की) वृद्धि होती रहती है। १२८.

*

देव, गुरु आदि निमित्तों का सांसारिक विषयों की अपेक्षा से फ़र्क़ है। क्योंकि सांसारिक विषय तो अपनी ओर झुकने को कहते हैं और देवादिक निमित्त अपनी ओर के झुकाव का निषेध करके स्वात्मा की ओर झुक जावो—ऐसा कहते हैं, इसलिए देवादिक निमित्तों में फ़र्क़ कहने में आता है। लेकिन जो जीव अपनी ओर नहीं झुकता है और देवादिक की ओर ही झुके रहता है, उसने तो सांसारिक विषयों की तरह ही इन्हें भी विषय बना लिया, तो कोई फ़र्क़ रहा नहीं। १२९.

*

जब मुनिगण अपने लिए अपनी शास्त्र में रमती हुई बुद्धि को व्यभिचारिणी मानते हैं, तो नीचेवालों की तो व्यभिचारिणीबुद्धि है ही। इसपर भी (अज्ञानी) जीव यहाँ ऐसे लेते हैं कि : मुनिगण तो अपने लिए बुद्धि व्यभिचारिणी मानें, वह तो ठीक है; परंतु अपन तो थोड़ी शक्तिवाले हैं, अपने को तो शास्त्रादि का अवलम्बन लेना चाहिए ही—ऐसे ओथ (आधार) लेकर, वहाँ संतोष मानकर, अटक जाते हैं। पहले में पहला तो त्रिकाली में प्रसर जाने का है—यही सर्व प्रथम कर्तव्य है। १३०.

*

एक समय की पर्याय में ही तो वेदन आता है; शक्ति में तो वेदन है नहीं। इसलिए यह वेदन ही प्रसिद्ध होने से, उसको ही अज्ञानी 'आत्मा' मान लेता है। वास्तव में तो 'आत्मा' क्षणिक पर्याय में जाता ही नहीं, वैसा का वैसा ही त्रिकाल रहता है। उसी में अपनापन हुए बिना सुख-शांति हो नहीं सकती। १३१.

*

गुरुदेवश्री के उपदेश में इतना खुलासा है कि, इस नीवँ से धर्म पँचमकाल तक टिकेगा, ऐसा दिखता है। १३२.

*

परिणाम में बैठकर वस्तु को देखने से वस्तु भिन्न दिखती है। इसलिए परिणाम से भिन्न होने के लिए वस्तु में बैठकर देखना है, तभी वस्तु में अपनापन होने से पर्याय का कार्य भिन्न दिखने लगेगा; और भिन्नता दिखने से पर्याय का नाश होते हुए भी (वस्तु में) अपनापन तो त्रिकाल ही रहता है; तभी तो पर्याय के नाश होने से आकुलता नहीं होगी; और इधर में बैठने से सुख-शांति बढ़ेगी। १३३.

*

असल में तीव्र दुःख लगे, तो सुख मिलता ही है। विकल्प में इतना (तीव्र) दुःख ही दुःख लगे तभी सुख की ओर जाते हैं, तो सुख मिलता है। १३४.

*

मुझे तो "ये षट् आवश्यक नहीं, लेकिन एक ही आवश्यक है"—वह पढ़कर इतना आनन्द हुआ था कि, वह मुझे स्पष्ट याद है। (अंगत)। १३५. *

पूज्य गुरुदेवश्री ने वस्तु-स्वभाव कितना स्पष्ट कर दिया है! वह तो पका–पकाया हलवा है! अपन तो सीधा खाते हैं। नहीं तो हमारी तो शास्त्र में से निकालने की इतनी शक्ति नहीं है। (अंगत)। १३६.

*

'एक समय की ज्ञानपर्याय स्वतंत्र है, (उसमें) पूर्व पर्याय भी कारण नहीं, उसमें तीन काल के पदार्थ जानने की ताक़त है'—ऐसा सुनकर, मुझे तो ऐसी चोट लगी कि : तब से मेरा पढ़ना कम हो गया। चलो न! पर्याय का स्वभाव ही जानने का है, तो सहज जानने में आ जाएगा, आकुलता क्यों करें? यहाँ सुख पीवो न! न्याय आदि नक्की करने में आकुलता होती है। अपने को तो सुख चाहिए। (अंगत)। १३७.

*

असल में बात यह है कि : सब की सब धारणा तो (अज्ञानी भी) सच्ची कर लेता है, परंतु पर्याय में बैठकर द्रव्य को देखता है, तो द्रव्य जुदा का जुदा पड़ा रहता है। पर्याय में बैठकर द्रव्य को नहीं देखना है, किंतु द्रव्य में बैठकर द्रव्य को देखना है, तो द्रव्य में अपनापन प्रसर जाता है। पर्याय में बैठने से द्रव्य तो दूर ही पड़ा रहता है। १३८.

*

गुरुदेवश्री की सिंहगर्जना ऐसी है कि, दूसरे को निर्भय बना देती है। वहीं जंगल के सिंह की गर्जना तो दूसरे को भयाकुल बनाती है।—दोनों में बहुत फ़र्क़ है। १३९.

*

थोड़ा यह तो कर लूँ! यह तो जान लूँ! सुन तो लूँ!— यह सब (अभिप्राय) अटकने का रास्ता है। (अपने) असंख्य प्रदेश में प्रसरकर, पूरे का पूरा व्यापक होकर, तन्मय रहो न! सुख-शांति बढ़ती जाएगी, विकल्पादि टूटते जाएँगे। १४०.

*

भूख-प्यास लगे, तो उसको बुझाए बिना चैन नहीं पड़ता। ऐसे, जो विकल्प में दुःख ही दुःख लगे, तो सुख शोध ही लेवे, उसके बिना चैन ही न पड़े—ऐसा ही स्वभाव है। १४१.

*

प्रश्न : विकल्प में दुःख ही दुःख लगे—ऐसा जो कहा, तो यह तो नास्तिपक्ष में गया?

उत्तर : नास्ति भी द्रव्य की अपेक्षा से है। बाक़ी तो उस (पर्याय) अंश में दुःख निकलकर सुख प्रकट होता है। और ऐसा दुःख लगे तभी तो द्रव्य की ओर आएगा। १४२.

*

प्रश्न : त्रिकाली में प्रसरने में ज्ञान कारण है या दृष्टि कारण है?

उत्तर : मुख्यतौर से तो दृष्टि ही कारण है, फिर ज्ञान को भी कहते हैं; दोनों साथ में ही हैं। दृष्टि प्रसर जाती है, तो ज्ञान भी हो जाता है।

प्रश्न : दृष्टि तो जानती नहीं, ज्ञान ही जानता है।

उत्तर : इस अपेक्षा से (स्वलक्ष्यी) ज्ञान को भी कारण कहते हैं। परंतु, यथार्थ में तो ऐसे ग्यारह अंगवाले को (परलक्ष्यी) ज्ञान

तो हो जाता है, दृष्टि नहीं होती—इसी से यथार्थ में तो दृष्टि को ही कारण कहते हैं। १४३.

*

निर्विकल्प ध्यान के पहले अनेक प्रकार का चिंतन घण्टों तक चले फिर-भी वह निर्विकल्पता का कारण नहीं है, वह तो अटकाव है। निर्विकल्पता तो अंदर में उग्र अवलम्बन से ही होती है। विचाररूप ध्यान तो रुकावट है; होता है, आ जाता है लेकिन, वह अवलम्बन नहीं है। अवलम्बन तो अंदर में लिया हुआ है, उसमें ही उग्रता होनेपर निर्विकल्पता होती है। यदि अटकावरूप विचार आदि को कारण माना जाए, तो विचार से छूटकर अंदर आ नहीं सकते। (इन्हें) अटकाव मानने पर ही अंदर आ सकते हैं। मंद शक्तिवश पर्याय में अनेक तरह का विचार चलता है, उसमें उल्लास भी होता है, किंतु ऐसा चिंतन आदि कारण नहीं, बल्कि अटकाव ही है। १४४.

*

प्रश्न : परिणाम अंदर में जमते नहीं, बाहर क्यों दौड़ते हैं?

उत्तर : बछड़े को बाँधें नहीं, तो बाहर चरने लगता है; यदि खूँटे में बाँध दें, तो फिरा तो करे, परंतु वहाँ से बाहर नहीं जा सकता है। ऐसे ध्रुव में पर्याय को बाँध देवें, तो पर्याय ध्रुव में ही फिरा करेगी, बाहर नहीं जाएगी; फिरना तो उसका स्वभाव है; लेकिन ध्रुव-खूँटे में ही फिरेगी और सुख मिलता रहेगा। १४५.

*

अपने को तो सुख पीने की अधिकता रहती है, जानने की नहीं। और खरेखर (वास्तव में) तो विकल्प से जो जानते हैं सो

तो सच्चा जानना ही नहीं है; अंदर में अभेदता से जो सहज जानना होता है वही सच्चा ज्ञान है। परसत्तावलम्बी ज्ञान को तो हेय कहा है न! शिवभूतिमुनि विशेष जानते नहीं थे फिर भी अंदर में सुख पीते-पीते उनको केवलज्ञान हो गया। १४६.

*

देव, शास्त्र, गुरु, श्रवण, विचार, वाँचन, मनन, उघाड़ और एक समय की पूर्व-उत्तर पर्याय जो-जो साधनरूप कहने में आता है, वह सब बाधकरूप है—ऐसा नहीं मानें, तब तक तो त्रिकाली में आ नहीं सकते। ऊपर-ऊपर से बाधकरूप कहे और अंदर में साधनरूप मानता रहे, तो वहाँ-ही झुकाव रहा करेगा, त्रिकाली में नहीं आ सकेगा। १४७.

*

पहले तो यह बात नक्की कर लो कि : सुनने से ज्ञान नहीं होता; सामान्य से ही ज्ञान होगा। फिर भी सुनने का विकल्प उठे, तो उसमें खेद होना चाहिए। मैं तो वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, वर्तमान से ही मुझे कुछ करना नहीं है। परिणाम में पुरुषार्थ सहज होता है। 'करूँ....करूँ' यह तो आकुलता है, बोझा है। १४८.

*

यहाँ तो परिणाम मात्र को व्यवहार कहते हैं। मोक्ष और मोक्षमार्ग सब व्यवहार है। 'मैं तो अक्रिय ध्रुव तत्त्व हूँ।' १४९.

*

अपना सुख देखा नहीं, इसलिए किसके साथ मिलान करे कि, यह देव-गुरुआश्रित वृत्ति भी दुःख है। इसी लिए (उसने) एकांत दुःख को सुख मान लिया है। १५०. *

वस्तु-स्वरूप जैसा है वैसा ही है; तो फिर अपेक्षा लगाकर ढीला थोड़े-ही हो सकता है? १५१.

*

अपने द्रव्य में एकत्व किए बिना, राग से और शरीर से भिन्नता नहीं हो सकती। भले-ही 'भिन्न है....भिन्न है' ऐसा कहे। लेकिन अपने द्रव्य में एकत्व होते ही सहज भिन्नता हो जाती है, विकल्प उठाना नहीं पडता; सहज-ही भिन्नता रहती है। १५२.

*

प्रश्न : अधिक गुणी का बहुमान करना कि नहीं?

उत्तर : अभिप्राय तो दूसरे का बहुमान करने का होवे ही नहीं और खिँचाव के कारण बहुमान आ जाए, तो उसे दीनता माननी चाहिए, उसका भी खेद होना चाहिए। १५३.

*

देव–गुरु के प्रति जो मचक होती है, वह भी नपुंसकता है; और अभिप्राय में मचक होवे, तो वह अनंती नपुंसकता है। १५४.

*

मुनि के लिए ऐसा कहा कि : यदि अन्य मुनि बीमार हो, तो वैयावृत्य करना। —वह तो विकल्प होवे, तो ऐसा होवे, उसकी बात है। 'अपने में एकाग्र हो' तो प्रथम तो वही कर्तव्य है, 'विकल्प' कर्तव्य नहीं। १५५.

*

अधिक पुण्य—वह तो विष्टा का बड़ा ढ़ेर है। १५६.

*

केवलज्ञान की पर्याय भी जब उपक्षणीय है, तब फिर क्षयोपशमज्ञान की तो बात ही क्या? १५७.

*

कोई भी कथन समझने के लिए यदि (वक्ता के) अभिप्राय को छोड़कर अर्थ करने जाएगा, तो अर्थ ग़लत ही होगा। १५८.

*

शुभराग को कर्तव्य मानने की तो बात ही कहाँ? 'मेरा तो कोई कर्तव्य ही नहीं'—ऐसा पहले पक्का होना चाहिए। १५९.

*

पहले विकल्पात्मकता में तो यह निर्णय कर लो कि, परिणाम की अपेक्षा से इधर ही जमने का है; दूसरा कुछ-भी करने का नहीं है। ऐसे विकल्पात्मक निर्णय का भी अवलम्बन नहीं होना चाहिए। और 'मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाम में जाता ही नहीं'—ऐसा अभ्यास होनेपर दृष्टि जम जाएगी। १६०.

*

इधर दृष्टि जम गयी बस! वही मुक्ति है; मुक्ति करनी नहीं है। १६१.

*

दूसरी सब जगहों से छूटा; परंतु इधर आया, तो देव–गुरु को चौंटा... यहाँ से ज़रूर (हित) होगा। वह तो वैसा का वैसा ही हुआ, सिर्फ़ नई दुकान चालू की—मात्र निमित्त ही बदला। १६२.

*

चाहे जैसी बात व कितनी-ही बात कहने में आवे लेकिन

त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए। कथन चाहे जैसा आवे, परंतु यह बात क़ायम रख करके ही अन्य सब बातें हैं। त्रिकाली की अधिकता कभी नहीं छूटनी चाहिए। १६३.

*

देव की ओर देखो, तो देव यह कहते हैं कि : मैं तुम्हारी सन्मुख नहीं देखता हूँ और तुम भी मेरी सन्मुख मत देखो, अपनी सन्मुख देखो! १६४.

*

षट् आवश्यक कहे जाते हैं, परंतु वास्तव में तो ये अनावश्यक हैं। विकल्प आता है, तो वह किस प्रकार का आता है—ऐसा बताने के लिए कहने में आता है। वास्तव में तो उसमें भी खेद और दुःख लगता है। स्वभावसुख में जमते ही विकल्प की आकुलता भासती है कि : ये आवश्यक आदि भी दुःखभाव हैं, (तो) ये उपादेय कैसे? १६५.

*

शुद्ध जीवास्तिकाय की दृष्टि बिना, शास्त्र में जो कथन आते हैं उनकी कितनी हद तक मर्यादा है?—वह समझ में नहीं आता। और दृष्टि होनेपर ज्ञान में सहज-ही सब बातें समझ में आ जाती हैं। १६६.

*

सर्वार्थसिद्धि के देव ३३–३३ सागर तक चिंतन–मनन करते हैं फिर-भी केवलज्ञान नहीं होता; और इधर अंतर्मुहूर्त एकाग्रता होनेपर केवलज्ञान हो जाता है। जानने से प्रयोजनसिद्धि नहीं होती; लीनता से सिद्धि होती है। १६७.

*

जिसकी जो रुचि होती है उसको उसी रस की मुख्यता होती है; इसी से मरण-समय भी उसी रस की उग्रता हो जाती है। १६८.

*

अशुद्धपर्याय का मुख बाहर की ओर है और शुद्धपर्याय का मुख अपनी ओर है; दोनों के मुँह की दिशा विरुद्ध है, इसी से वे सहज-ही भिन्न दिखते हैं। १६९.

*

यहाँ तो महाराजासाहब ने भूमिका तैयार कर दी है; बस! अब तो थोड़ा-सा सुख का बीज बो देना जिससे महा आनंद होवे। १७०.

*

प्रश्न : उपयोग को अंदर में वालने (झुकाने) की बात है न?

उत्तर : इसमें भी उपयोग (पर्याय) में अपनापन, और अपनी ध्रुव वस्तु में परायापन हो जाता है। 'उपयोग मेरी ओर आएगा'—ऐसा होना चाहिए। १७१.

*

फूल बाग़ में हो या जंगल में, उसको कोई सूँघो या न सूँघो, उसकी क़ीमत तो स्वयम् से है; कोई सूँघे, तो उसकी क़ीमत बढ़ नहीं जाती, अथवा नहीं सूँघे, तो वह कुम्हला नहीं जाता। इसी तरह से कोई अपने को जाने या न जाने उससे अपना मूल्य थोड़ा ही है? अपना मूल्य तो अपने से ही है। कोई मान-सन्मान देवे, न देवे—सब धूल ही धूल है, उसमें कुछ नहीं है। १७२.

*

पूज्य गुरुदेवश्री अपने लिए तो अनंत तीर्थंकर से अधिक हैं, क्योंकि अपना कार्य होने में निमित्त हुए इसी लिए।

दूसरा, उन्होंने यह बताया कि : भैया! 'तुम सिद्ध तो क्या? सिद्ध से भी अधिक हो, अनंत सिद्ध-पर्याएँ जहाँ से सदैव निकलती रहें, ऐसे तुम हो।'—ऐसा उत्कृष्ट वाच्य पूज्य गुरुदेवश्री ने बतलाया। १७३.

*

द्रव्य की सलामती देखते पर्याय भी सलामत हो जाती है। १७४.

*

प्रश्न : ज्ञान तो करना चाहिए न?

उत्तर : अरे भाई! ज्ञान अपना स्वभाव है कि नहीं?—स्वभाव है; तो ज्ञान तो होता ही है। 'करना चाहिए' इसमें तो वज़न पर्यायपर चला जाता है और अक्रिय सारा पड़ा रह जाता है।

'मैं वर्तमान में ही अक्रिय हूँ, कुछ करना ही नहीं है'—ऐसी दृष्टि होनेपर, ज्ञान-क्रिया सहज उत्पन्न होती है। जानने आदि का विकल्प भी आता है, परंतु इसपर वज़न नहीं जाना चाहिए, यह सब गौण रहना चाहिए। १७५.

*

अपनी कार्य-सीमा परिणाम तक ही है, उससे आगे नहीं जा सकते हैं। लड्डू आदि भोग ही नहीं सकते; लेकिन जो थोड़ी-सी मचक से राग होता है, वह तो मुझे सहज सुख के आगे विष-तुल्य लगता है। १७६.

*

कोई तो धारणा कर लेते हैं; कोई धारणा करके रटन करते हैं; लेकिन भाई! धारणा करके क्या तुझे किसी को दिखाना है कि 'मैं जानकार हूँ?'

प्रश्न : लेकिन अपने स्वरूप की प्राप्ति न हो तब तक निर्णय के लिए तो धारणा चाहिए न?

उत्तर : धारणा सहज होती है। 'मैं धारणा कर लूँ'—यह तो बोझा उठाना है। धारणा के ऊपर तो वज़न ही नहीं आना चाहिए। 'धारणा होनी तो चाहिए न!'—ऐसा वज़न नहीं होना चाहिए; सहज हो तो हो। १७७.

*

प्रश्न : चिंतन करना (चाहिए) क्या?

उत्तर : चिंतन भी भट्टी-सा लगना चाहिए। वह भी दुःखभाव लगे, तो वहाँ से हट सकेंगे, नहीं तो वहाँ से क्यों खिसकेंगे? मार्ग में आता है तो ठीक किंतु उसको दुःखभाव जानना, उसमें एकत्व नहीं करना। चिंतन भी चिंता है, आकुलता है। चिंतन जहाँ से उठता है, उस भूमि में जमे रहो। १७८.

*

(श्रोता :) साक्षीभाव रहना चाहिए?

(श्री सोगानीजी :) अपन तो साक्षीभाव में भी नहीं आते। अपन तो ऐसी भूमि हैं जहाँ से एक साक्षीभाव तो क्या अनंत साक्षीभाव उठते रहेंगे। एक समय के साक्षीभाव में मैं पूरा का पूरा आ जाऊँ, तो मेरा नाश हो जाए। साक्षीभाव में भी एकत्व नहीं करना है। जहाँ से वह उठता है, वो ही भूमि—नक्कर

(स्थिर, ठोस) स्थल—मैं हूँ। १७९.

*

वस्तु वर्तमान में प्रत्यक्ष स्थित है, वर्तमान में ही विद्यमान है। एक समय की पर्याय के पीछे पूर्ण वस्तु स्थित है। लक्ष्य करे उसी क्षण (वह) दिख जाती है (—वेदन में आ जाती है)। १८०.

*

देव–शास्त्र–गुरु की इज्जत करते हैं, क़ीमत करते हैं, तो वे ही कहते हैं कि : तू तेरी क़द्र कर। १८१.

*

'स्वयम् से ही लाभ है'—ऐसा न माने, तो अन्य से लाभ मानना ही पड़े, यह नियम है। और 'अपने से ही लाभ है'—ऐसा माने, तो पर से लाभ माना ही नहीं जाता, यह भी नियम है। १८२.

*

योग्यता और पात्रता ठीक होवे, तो एक ही क्षण में काम हो जाए—ऐसी बात है। १८३.

*

पहले विकल्प उठे और बाद में समाधान करे कि 'यह स्वतंत्र है', (तो यह यथार्थ नहीं)। विकल्प के साथ ही साथ उसी क्षण उससे भिन्नता होनी चाहिए। १८४.

*

प्रश्न : धारणा के बिना अनुभव हो सकता है क्या?

उत्तर : धारणा नहीं होवे और अनुभव हो जाए, यह सवाल

ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि : धारणा होनेपर भी अनुभव नहीं होता। धारणा में 'मैं चैतन्यमूर्ति हूँ'—ऐसा टाँक दो और इसी स्थल पर जम जाओ, तब अनुभव होता है। १८५.

*

मैं ऐसी भूमि हूँ जहाँ से क्षण-क्षण में नया-नया फल उत्पन्न होता ही रहता है। जैसे भूमि से ऋतु-ऋतु के अनुसार अनेक फल उत्पन्न होते रहते हैं, वैसे मैं ऐसी भूमि हूँ जहाँ से सुख का फल उत्पन्न होता ही रहता है। मैं अमृतरस से भरा हुआ हूँ। मैं तो ऐसी भूमि हूँ जिसे फल के लिए जल की भी ज़रूरत नहीं रहती, क्योंकि मैं स्वयम् ही सुखरूप हूँ; दूसरे पदार्थों की अपेक्षा ही नहीं। १८६.

*

प्रश्न : जम जाना भी तो पर्याय ही है न?

उत्तर : अरे भाई! आख़िर कार्य तो सब परिणाम में ही आएगा। परिणाम से घबराओ मत। लेकिन परिणामपर खड़े भी मत रहो। कार्य तो परिणाम में ही आता है। अपरिणामी में जम गया, तो कार्य तो परिणाम में ही आएगा और वेदन भी पर्याय का ही होगा। 'अपरिणामी' व 'परिणाम' दो अंश मिलकर पूरी वस्तु है। १८७.

*

अपन तो अपने ही सुख-धाम में बैठे रहें, जमे रहें बस! यही एक बात क़ायम रख करके, दूसरी-दूसरी सभी बातों को ख़तिया लो। १८८.

*

ज्ञान का थोड़ा क्षयोपशम होवे और थोड़ा विकास भी होता जाए, तो वह उसमें ही रुक जाता है। मैं थोड़ा समझदार तो हूँ और पहले की अपेक्षा शांति भी तो बढ़ रही है, इस तरह से मैं आगे बढ़ तो रहा हूँ—ऐसे संतोष मानकर (अज्ञानी) अटक जाता है। १८९.

*

यहाँ बैठते ही बस! इधर अपने असंख्यात प्रदेश में दृष्टि लगाते ही यहीं से सीधा सिद्धलोक में जाएगा। १९०.

*

'वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ'—ऐसी दृष्टि अपनी वस्तु में हुई, तो 'करूँ....करूँ'—ऐसी कर्तृत्वबुद्धि छूट गई, बस! यही मुक्ति है। १९१.

*

'अपने सुख-धाम में सदा जमे रहना' बस! यही बात बारह अंग का एकमात्र सार है। १९२.

*

दृष्टि खुले बिना शास्त्र का अर्थ भी यथार्थरूप से ख़तिया नहीं सकते। ख़तियाने में इधर की मुख्यता कभी गौण नहीं होनी चाहिए। इधर की मुख्यता क़ायम रखकर ही सब कथन ख़तियाने चाहिए। १९३.

*

ज्ञानी को भी क्षणिक विकल्प उठते हैं, लेकिन (उनमें) पूर्व की (अज्ञानदशा की) माफ़िक अनंत ज़ोर नहीं है। विकल्प उठते हैं, किंतु पछाड़ खाकर ख़त्म हो जाते हैं। १९४.

*

सहज सुख का अनुभव साथ–साथ वर्तता ही है, इसलिए ज्ञानी हर्षभाव को भी प्रत्यक्ष दुःखरूप जानते हैं। परंतु जिन्हें सहज सुख प्रकट नहीं हुआ, वे किसके साथ मिलानकर हर्षभाव को दुःखरूप मानेंगे? १९५.

*

जो आनंद में मस्त है, उसकी मस्ती में आनंद की ही बात आती है। १९६.

*

''शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयम् ज्योति सुख धाम''—कैसी सुंदर बात श्रीमद्जी ने की है! एक पंक्ति में सब बात आ गई। बस, भाई! तू इतना-ही विचार (ज्ञान) कर। १९७.

*

परिणाम का कार्य परिणाम करेगा, तुम उसकी दरकार छोड़ो। तुम तो अपने नित्यघर में ही बैठे रहो। अपने घर में बैठे, तो सब सहज-ही सहज है। परिणाम का चश्मा लगाया हुआ हो, तो परिणामरूप ही भासता है, अपरिणामी नहीं भासता। १९८.

*

'मैं अधिक हूँ'—यही स्वयम् का माहात्म्य भाव है। मैं कोई भी भाव में–विकल्प में खिसकता नहीं, तणीजता (खींचिजता) ही नहीं, वैसा का वैसा और वहीं का वहीं हर समय रहता हूँ; विकल्प के साथ, परिणाम के साथ खिसकता ही नहीं हूँ। क्या दर्पण का दल क्षणिक आकार में खिसकता है?—वैसा का वैसा ही रहता है। ऐसे ही, मैं भी सदा वैसा का वैसा रहता हूँ। १९९.

*

कहाँ एक समय का भाव और कहाँ त्रिकाली सामर्थ्य !! त्रिकाली सामर्थ्य के पास एक समय के भाव की क्या शक्ति ? २००.

*

यह बात समझ में आने पर 'करूँ.... करूँ' का बोझा तो हल्का हो जाए; परंतु इस त्रिकाली-अपरिणामीभाव का अनुभव होना—यही ख़ास बात है; यह अनुभव करो। २०१.

*

(चर्चा सुननेवालों के प्रति :) यहाँ वाले सभी की लगनी तो अच्छी हो गई है; लेकिन यहाँ की मुख्य बात कि 'हमारा लक्ष्य छोड़ो'—यह बात छोड़ी नहीं जाती। (मानते होंगे कि) तुम ऐसी अच्छी बात बताते हो, तो तुम्हारा लक्ष्य कैसे छोड़ें, तुम्हारी सन्मुखता कैसे छोड़ें ? लेकिन असल में तो अपनी सन्मुखता बिना यह बात समझ में नहीं आती। २०२.

*

अरे भाई ! तू एक समय की पर्याय में आ नहीं जाता है। तू तो अनंती पर्यायों का पिण्ड है; यदि तू एक पर्याय में आ गया, तो अन्य सभी पर्याएँ विधवा हो जाएँगी। २०३.

*

अज्ञानी को अकेले परिणाम का ही वेदन होता है। परिणाम के साथ-ही समूचा अपरिणामी पड़ा है, उसका वेदन नहीं होता। लेकिन अपरिणामी में दृष्टि जमाकर, उसमें तादात्म्य होकर-प्रसरकर अपनापन होते ही उसी क्षण में 'अपरिणामी' और 'परिणाम' दोनों का एक साथ अनुभव होता है। अकेले परिणाम का वेदन मिथ्यादृष्टि

को ही होता है। ज्ञानी को तो एक साथ दोनों का अनुभव रहता है। २०४.

*

'मैं निष्क्रिय हूँ'—यह चश्मा तो सदा ही लगाए रखना चाहिए। दूसरा चश्मा लगाते समय भी, यह चश्मा तो लगाए ही रखना चाहिए; इसके बिना तो कुछ-भी दिखलाई नहीं देगा। (यहाँ चश्मा शब्द का वाच्य 'दृष्टिकोण' है।) २०५.

*

मैं ऐसा अपरिणामी (अचल) पदार्थ हूँ कि, तीनों लोकों के सभी पदार्थ इकट्ठे होकर भी मुझे हिला–डुला नहीं सकते। २०६.

*

साधक–बाधक ये सब तो पर्याय का ज्ञान करने के लिए हैं। सबलाई का चश्मा लगाए बिना, नबलाई का भी (सही) ज्ञान नहीं होता है। साधकपना–बाधकपना तो पर्याय की बात है। हमें तो साधकपने–बाधकपने की भी दरकार नहीं है। क्योंकि बाधकपना मुझे नुकसान नहीं पहुँचा सकता और साधकपना लाभ नहीं कर सकता, तो फिर इनका विचार क्यों? २०७.

*

अपने में ऐसे लीन हो जाना कि, उसके रस से परिणति अन्यत्र जाए ही नहीं—उसी को वैराग्य कहते हैं। २०८.

*

यहाँ अपनी ओर आते-ही कर्म की खड़खड़ाहट ख़त्म हो जाती है, कर्म-धूलि उड़ने लगती है, पर्याय का बाँकापन–टेढ़ापन

भी छूट जाता है, सुख–शांति बढ़ती जाती है। २०९.

*

अपेक्षा-ज्ञान बराबर होना चाहिए, नहीं तो ख़तियाने में फेर हो जाता है। किस अपेक्षा से, किस बात को कितनी मर्यादा तक कहा है, उसका ख़याल होना ज़रूरी है। २१०.

*

निश्चयाभास (होने) का भय छोड़ देना चाहिए। निश्चयाभासी तो तब कहें कि, जब पर्याय में स्वाभाविक सुख प्रकटा न हो। परंतु जिसको सुख प्रकट हुआ है, वह निश्चयाभासी नहीं है। २११.

*

पर्याय को जहाँ जाना है, वह (धाम) तो निवृत्ति–प्रवृत्ति दोनों से रहित है, फिर भी वहाँ जानेवाले को निवृत्ति का ही विकल्प बीच में आता है, प्रवृत्ति से खिसकने का ही भाव आता है—यह नियम है। नियम होनेपर भी उसपर वज़न नहीं है; ऐसा ही भाव बीच में आ जाता है। २१२.

*

तुम पंद्रह साल का सम्बंध कहते हो, लेकिन हमारे तो वर्तमान विकल्प जितना-ही, एक क्षण का सम्बंध है; यह विकल्प छूटा कि फिर ख़लास।

चक्रवर्ती (सम्यग्दृष्टि) को छियानबे हजार रानियाँ और वैभव आदि होनेपर भी वर्तमान जिस पदार्थ की ओर लक्ष्य जाता है, उसी का वह भोक्ता कहलाता है; परंतु अभिप्राय में तो उस पदार्थ का भोक्ता उसी क्षण ख़त्म हो गया। २१३.

*

'आत्मधर्म' जब मिला उसमें ''एक ही आवश्यक है'' ऐसा पढ़ते-ही चोट लगी। अरे! यह आठ द्रव्यों से पूजा करना, छह आवश्यक इन सब में तो बोझा लगता है और इस एक (निश्चय) आवश्यक में तो बोझा घट़ जाता है। (अंगत)। २१४.

*

(सोनगढ़ से दो मील दूर 'एकलिया डैम' के एकांत स्थल के शांत वातावरण को देख कर कहा :) यह स्थान यह बतला रहा है कि : यदि तुम्हें सुख चाहिए, तो तुम अपने साथियों से भी दूर हो जाओ। २१५.

*

'मैं निरावलम्बी पदार्थ हूँ'—ऐसा निर्णय आए बिना, अभिप्राय में आलम्बन नहीं छूटता। २१६.

*

प्रश्न : श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर ही छोड़ देना?

उत्तर : यथार्थ श्रद्धा तो हुई नहीं और श्रद्धा अन्यत्र भटकती हुई अपनापन करती रहे और फिर-भी कहे कि 'श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर छोड़ता हूँ'—ऐसा तो हो नहीं सकता। पहले श्रद्धा अपने त्रिकाली अस्तित्व में अभेद हो जाए, उसके बाद तो श्रद्धा का कार्य श्रद्धा पर ही है। २१७.

*

झटपट मुक्ति चाहिए, तो बस! यहाँ ही बिराजमान हो जाओ। २१८.

*

ज्ञान करने की ज़रूरत नहीं; मंद कषाय करने की ज़रूरत

नहीं; निर्विकल्पता करने की ज़रूरत नहीं; केवलज्ञान करने की ज़रूरत नहीं;—सभी सहज होते हैं, करने का बोझा ही नहीं रखना है। अपरिणामी पर आए, तो सब सहज-ही होता है। 'ज्ञाता-द्रष्टा रहूँ'—यह भी नहीं; इधर आया, तो ज्ञाता-द्रष्टापना सहज रहता है, 'रहूँ'—ऐसा नहीं। २१९.

*

(तीर्थंकर के जन्मोत्सव में) इन्द्र नृत्य करके, बाहर में लौकिक अपेक्षा से, ख़ुशी मना रहे हों तो भी, उनके अंदर में जो सहज सुख चलता है उसमें, वह हर्षभाव भी सहज-ही दुःखरूप लगता है और यह सहज सुख उस (हर्ष-)भाव का सहज निषेध करता है; बाहर में तो इन्द्र हर्ष-भाव से ख़ुशी मनाते हैं। २२०.

*

प्रश्न : स्थिरता क्यों नहीं होती?

उत्तर : क्षणिक परिणाम में अपनापन है, स्थिर तत्त्व को पकड़ा नहीं है, तब स्थिरता कहाँ से आए? 'मैं अपरिणामी सदैव स्थिर ही हूँ'—ऐसे त्रिकाली स्थिर तत्त्व में अपनापन आते-ही परिणाम में स्थिरता सहज आ जाएगी, स्थिरता बढ़ेगी और पूर्णता भी हो जाएगी। पहले 'मैं त्रिकाली स्थिर तत्त्व हूँ'—ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। २२१.

*

जितना-भी देव-शास्त्र-गुरु की ओर लक्ष्य जाता है उतना नुकसान ही है, लाभ नहीं है—यह बात पक्की हो जानी चाहिए। २२२.

*

प्रश्न : उपयोग को स्वयम् की ओर ढालने का ही एक मात्र कार्य करने का है न?

उत्तर : पर्याय की अपेक्षा से तो ऐसा ही कहा जाएगा। क्योंकि उपयोग दूसरी ओर है, 'तो इधर लाओ'—ऐसा कहने में आता है। असल में तो 'मैं खुद ही उपयोगस्वरूप हूँ, उपयोग कहीं गया ही नहीं'—ऐसी दृष्टि होनेपर, उपयोग स्व-सन्मुख आता ही है। २२३.

*

सुनने के भाव में सुननेवाले को और सुनाने के भाव में सुनानेवाले को नुकसान है। दोनों को नुकसान का ही धंधा है। अपनी-अपनी योग्यतानुसार दोनों को नुकसान है। २२४.

*

सारी दुनिया को छोड़कर इधर आया, तो इधर थपाट लगाकर (झिड़क कर) कहते हैं कि : अरे भाई! तू तेरी ओर जा। २२५.

*

आत्मासम्बंधी विकल्प हो या परसम्बंधी विकल्प हो, विकल्प तो विकल्प ही है। २२६.

*

प्रश्न : वस्तु पकड़ने में नहीं आती, तो कहाँ अटकाव हो जाता है? क्या महिमा नहीं आती है?

उत्तर : एक समय के परिणाम में अपनापन रहता है, बस! यही भूल है। महिमा तो आती है, किंतु ऊपर-ऊपर से। यदि

वास्तविक महिमा आ जाए तब तो छोड़े ही नहीं। वस्तु का आश्रय पकड़ना चाहिए, उसे नहीं पकड़ता है। २२७.

*

पर्याय मात्र की गौणता करो। अनुभव हुआ, नहीं हुआ— यह मत देखो। 'त्रिकाली वस्तु ही मैं हूँ।' पर्याय मात्र को गौण कर, इधर का प्रयास करो। अभिप्राय में एक दफ़ा तो सब से छूट जाना है। २२८.

*

जैसे भूँगली को पकड़े हुए शुक को ऐसा लगता है कि : मैं उलटा हूँ, यदि सुलटा होता, तो फ़ौरन उड़ जाता। ऐसे अज्ञानी को ऐसा लगता है कि : मैं विकारी हूँ, इसलिए आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकूँ? अरे भाई! सुलटे–उलटे की बात ही नहीं है; परिणाम से छूटा, तो ध्रुव पर ही आएगा। भूँगली को शुक छोड़ता, तो उड़ ही जात क्योंकि उड़ना उसका स्वभाव है। ऐसे परिणाम से खिसके, तो त्रिकालीदल में ही आएगा। २२९.

*

ध्रुव तत्त्वपर पाँव (दृष्टि) रखो, तो पर्याय में सब कार्य सहज-ही होगा। २३०.

*

आचार्यभगवंत तो निरंतर अमृतरस का ही पान करते थे, अमृतरस में ही मग्न रहते थे। जैसे अच्छा भोजन करते समय अपने कुटुम्बिकजनों की याद आती है, वैसे आचार्यदेव को करुणा आती है कि : भाई! तुम्हारे पास भी आनंद का दरिया पड़ा है, तुम भी उसको पीओ.... पीओ! २३१. *

वस्तु साक्षात् मौजूद पड़ी है, मात्र कल्पना नहीं करना लेकिन उस-रूप हो जाना, तन्मय होकर असंख्य प्रदेश में व्याप्त हो जाना। जब वस्तु साक्षात् है, तो फिर मात्र कल्पना क्यों करना?—उस-रूप परिणम जाना। २३२.

*

अपने त्रिकाली ध्रुवगुरु को गुरु बनाकर जो शुद्धपर्याय प्रकटी, तो बाहर में उस वाच्य के बतानेवाले पर गुरु का आरोप किया जाता है। २३३.

*

परिणाम में फेर–फार करना मुझ चैतन्य-खान का स्वभाव नहीं है। पुरुषार्थ की खान ही मैं हूँ, तो फिर एक समय के पुरुषार्थ में 'करने की' आकुलता क्यों? २३४.

*

अपनी अनंत परिणति को नित्य रहकर भोगते रहो; खण्ड–खण्ड होकर भोगने में तो अपना नाश हो जाता है। २३५.

*

'मैं निरावम्बी तत्त्व हूँ' इसकी तो पूरी मुख्यता होनी चाहिए और 'दीनता' का पूरा–पूरा दुःख मालूम होना चाहिए। २३६.

*

यहाँ अपनापन आते-ही मोक्ष अपने आप हो जाता है। दृष्टि यहाँ अभेद हुई, तो उसे मुक्ति समझो। २३७.

*

अपने स्वक्षेत्र में बैठ गया, तो परिणाम जाएगा कहाँ ? परिणाम का ज़ोर पँगु हो जाएगा । बहिर्मुखता में तो परिणाम पर के साथ चला जाता है । दृष्टि यहाँ जमी, तो परिणाम में ज़्यादा दूर जाने की शक्ति ही नहीं रहती । २३८.

*

यथार्थ रुचि हो, तो काल लगे ही नहीं, रात–दिन, खाते–पीते–सोते उसके ही पीछे पड़े । २३९.

*

कृत्रिम पुरुषार्थ की तो बात ही क्या ? लेकिन अक्रिय दृष्टि में तो सहज पुरुषार्थ की भी गौणता है, क्योंकि वह भी क्रिया है । अक्रिय दृष्टि में क्रिया मात्र की गौणता है । २४०.

*

सुनने के काल में भी 'मैं निरावलम्बी तत्त्व हूँ' यहाँ से शुरू करना चाहिए; फिर सुनने का भाव आएगा किंतु उसकी मुख्यता नहीं होगी । २४१.

*

परिणाम को हटा नहीं सकते, परिणाम में से एकत्व हटा सकते हैं । २४२.

*

उपयोग अपने से बाहर निकले, तो यम का दूत ही आया ऐसा देखो । बाहर में फिर चाहे भगवान् ही हों ! उसमें (बहिर्लक्ष्य में) अपना मरण हो रहा है । बाहर के पदार्थ से तो अपना सम्बंध ही नहीं, तो फिर उपयोग को बाहर में लम्बाना क्यों ? २४३.

*

'कुछ करना नहीं हैं'—ऐसा हर समय भाव रहना, इससे अधिक मुक्ति कौनसी है? २४४.

*

दूसरे से अपनी प्रसिद्धि होवे, इसमें तो अपने को पराधीनता आई; खुद तो लँगड़ा ही रहा। २४५.

*

बाहर के सत्—देव–शास्त्र–गुरु—से तुझे लाभ होनेवाला नहीं है। तेरे सत् से ही तुझे लाभ है। बाहर के सत् से लाभ होवे, तो क्या तू स्वयम् सत् नहीं है?? २४६.

*

वस्तु और वस्तु में एकाग्रता–तणाव (खिंचाव) बस! ये ही दो बातें हैं। एकाग्रता होते–होते मुक्ति हो जाती है।

सुनना, तत्त्वचर्चा करना, ये सब विषय-सेवन हैं; अपने विषय को छोड़कर, इन्हें विषय बनाते हैं, तो अपना विषय पड़ा रह जाता है। २४७.

*

सिर्फ़ बैठक ही बदलना है। परिणामपर बैठे हो, तो वहाँ से उठकर अपरिणामीपर बैठ जाओ—बस! इतनी-सी बात है। २४८.

*

कचास तो तब कही जावे कि, जब अकचासस्वभाव की दृष्टि हुई हो; नहीं तो कचास कहाँ है? एकांत परसन्मुखता है। २४९.

*

(आत्मप्राप्ति कैसे होवे?—इस विषय में जिज्ञासापूर्वक पूछे गए प्रश्न का विस्तृत उत्तर :)

रुचि में खरेखर अपनी ज़रूरत लगे, तब अपनी वस्तु की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। चौबीसों घण्टों चिंतन में–बेचिंतन में एक ही यही चलता रहे। जिस विषय की रुचि होती है, वह विषय सैंकड़ों बाह्य कार्य करते हुए भी चलता ही रहता है। बाहर का उपयोग तो ऊपरी–ऊपरी तौर से चलता है, उसमें जागृति नहीं रहती। जिस विषय की रुचि है, उसमें जागृति रहती है। सैकड़ों कार्य करते रहने पर भी सभी की गौणता ही रहा करती है; मात्र रुचि का विषय ही सदा मुख्य रहता है।

विकल्पात्मक विचार में भी शरीराकार चैतन्यमूर्ति को टाँक दो—'मैं तो यही हूँ।' सुख–दुःख की जो कोई पर्याय हो, उसकी उपेक्षा रखो। 'मैं तो यही हूँ'—विचार चले, उसकी भी गौणता रखो। 'मैं तो वैसा का वैसा ही चैतन्यमूर्ति हूँ'—बस! यही दृढ़ता करते रहो।

सुनना, शास्त्र पढ़ना आदि सभी की गौणता होनी चाहिए; एकांत का ज़्यादा अभ्यास रहना चाहिए।

यह प्राप्त नहीं हुआ, तो जीव निगोद में चला जाएगा—ऐसे निगोद के भय से, अपना कार्य करना चाहे, तो वो यथार्थ नहीं। परंतु निगोद की अवस्था हो या सिद्ध की, 'मेरा तो कुछ-भी बिगाड़–सुधार नहीं ऐसी मैं अचलित वस्तु हूँ'—ऐसी श्रद्धा जम जानी चाहिए। पर्याय कैसी-भी हो, उसकी उपेक्षा ही रहनी चाहिए।

परद्रव्य के साथ में तो कुछ सम्बंध ही नहीं—ऐसा तो पक्ष होना चाहिए; बाद में वस्तु और परिणाम इन दो के विचार में ही सब समय लगा देना है।

चौबीसों घण्टों बस! यही चलना चाहिए। प्रवृत्तिभाव को गौण करके इस एक (चैतन्यमूर्ति) ही की मुख्यता चलनी चाहिए, यही प्रयास निरंतर चलना चाहिए। २५०.

*

आत्मा ज्ञान और सुख से भरा हुआ है फिर अपने को चाहिए भी क्या? लोग जन्म-मरण से छूटना चाहते हैं, लेकिन मैं तो जन्म-मरण से रहित ध्रुव हूँ; उत्पाद-व्यय के साथ भी मैं खिसकता नहीं। २५१.

*

इधर से जो ज्ञान खिलता है, वो सारे नाटक को देखता है: कैसे-कैसे भाव उठते हैं? कैसे ठगाते हैं? कैसे खिँचाव होता है?—ये सब नाटक, ज्ञान देखते रहता है। २५२.

*

इतना-इतना खुलासा यहाँ से (पूज्य गुरुदेवश्री से) बाहर आ चुका है कि, पँचम आरा के अंत तक चलेगा। २५३.

*

(मात्र) विचार करने से वस्तु का पता नहीं लगता। वस्तु तो प्रत्यक्ष मौजूद है, बस! इसी में प्रसरकर बैठ जाना, बिराजमान हो जाना। २५४.

*

मैं ही पुरुषार्थ की खान हूँ न! दृष्टि ने पुरुषार्थ की खान का क़ब्ज़ा ले लिया, फिर पर्याय में पुरुषार्थ, सुख आदि सहज होता ही है। २५५.

*

प्रश्न : परिणाम में से एकत्व छोड़ देना, यही आपका कहना है ?

उत्तर : बस ! यही कहना है । परिणाम में से एकत्व छोड़ दो । लेकिन यह एकत्व छूटे कैसे ?—नित्य स्वभाव में एकत्व करे तब । निश्चय नित्य स्वभाव में दृष्टि जमाकर, परिणाम मात्र से एकत्व उठा लेना । २५६.

*

प्रश्न : वृत्ति उठती रहती है, वह कैसे रुक जाए ?

उत्तर : एक समय की वृत्ति को उसी में रहने दो । मैं त्रिकाली तो एक समय की वृत्ति में जाता ही नहीं । त्रिकाली में अपनापन होते-ही वृत्ति भी खिँची चली आएगी । २५७.

*

सब से प्रथम अभिप्राय में निरावलम्बीपना आ जाना चाहिए । बीच में ज़रा-सा (पर का) अवलम्बन आ जाए, लेकिन उसी समय अभिप्राय में (उसका) निषेध (वर्तता) है । २५८.

*

ज्ञान की राग के प्रति पीठ होती है, मुख नहीं होता । इधर मुख होने से राग स्वयम् छूट जाएगा । राग को कम करूँ, छोड़ूँ—ऐसा तूफ़ान नहीं होता । राग को कम नहीं करना है और लम्बाना भी नहीं है । स्वभाव का बल बढ़ते-बढ़ते राग कम होता जाता है । ज्ञान का परिणमन अर्थात् स्थिरता—बस ! यही एक राग के नाश का उपाय है । राग को कम करूँ [—ऐसा कर्तृत्व भाव], यह कोई उपाय नहीं है । २५९.

*

मैं तो यह सब स्वप्न देख रहा हूँ : शरीर शररी में; और मैं मेरे में हूँ; स्वप्न की माफ़िक यह सब हो रहा है। २६०.

*

प्रश्न : सीताजी साधर्मी थी और पत्नी भी थी, तो भी रामचंद्रजी ने लौकिकजनों की मुख्यता करके वात्सल्य अनुराग को भी गौण कर दिया—ऐसा कैसे?

उत्तर : देखो! इससे यही सिद्ध हुआ कि : धर्मी को वात्सल्य राग ही मुख्य होता है, ऐसा नहीं है। कभी कैसा राग आ जाए! और कभी क्या राग आ जाए! २६१.

*

वात्सल्य, प्रभावना आदि के राग को हम तो रोग मानते हैं, फिर उसको बढ़ाना क्या? २६२.

*

द्रव्यलिंगी को वस्तु का माहात्म्य तो आया, लेकिन वस्तु परोक्ष ही रही, प्रत्यक्ष नहीं हुई। २६३.

*

आचार्य ने दृष्टि के दोष को इतना बड़ा बताया है कि, भाई! सर्प का कटा तो एक ही दफ़ा मरता है, लेकिन मिथ्यात्व का कटा हुआ अनंत भव में रुलता है। इसलिए इस मिथ्यात्व के महान् पाप से बचने के लिए, शादी तक कर लेने का कह दिया, क्योंकि वह तो मात्र राग का (चारित्रदोष का) ही कारण है। २६४.

*

पर्याय द्रव्य से सर्वथा ही भिन्न है। प्रमाण में अभिन्नता भी

कहने में आती है, लेकिन प्रमाण निश्चयनय को झूठा करके नहीं कहता है। निश्चय से तो पर्याय सर्वथा भिन्न है। प्रदेश एक होने से प्रमाण उनको अभिन्न कहता है। प्रमाण अभिन्न ही कहता है ऐसा (भी) नहीं है; भिन्न-अभिन्न दोनों कहता है। परंतु 'एकांत भिन्न है'—ऐसा ज़ोर दिए बिना, पर्याय में से दृष्टि उठेगी नहीं। ''अनेकांत पण सम्यक् एकांत एवा निज पदनी प्राप्ति सिवाय अन्य हेतुए उपकारी नथी''—यह सत्य है। २६५.

*

मैं इतना मज़बूत स्थल हूँ कि, एक समय की पर्याय में अनंत सुख हो, ज्ञान हो या अनंत विपरीत पर्याएँ हों, मेरे में उन पर्यायों से कुछ-भी हलचल नहीं होती, सुधार-बिगाड़ नहीं होता—ऐसी दृढ़-मज़बूत चीज़ मैं हूँ। २६६.

*

प्रश्न : परिणाम कैसे सुधरें?

उत्तर : नित्य अपरिणामी ध्रुवधाम में दृष्टि बिराजमान करने से परिणाम सुधरने लगेंगे। २६७.

*

आख़िर तो सदा एकांत (अकेला) ही रहना है, तो शुरू से ही दो-चार-पाँच घण्टों का अभ्यास चाहिए। २६८.

*

जैसे मृत्यु का बाझा ताव से छूटता है, ऐसे 'परिणाम मेरे से सर्वथा भिन्न है' (—ऐसा ज़ोर देने पर ही) दृष्टि परिणाम से छूटती है। २६९.

*

किसी-भी कार्य की जवाबदारी लेना, सो तो बड़ा पहाड़ उठाना है। (अंगत)। २७०.

*

यह जो महाराजसाहब का योग मिला है, वह परम योग है, क्योंकि परम स्वभाव की प्राप्ति का कारण है। महाराजसाहब जगत्गुरु हैं, जो अकेले सिद्धलोक में नहीं जाते, बहुत से जीवों को साथ लेकर जाते हैं। यहाँ के अधिकांश लोग साथ में चलनेवाले हैं। २७१.

*

यह सब (तत्त्व की) बात विकल्पात्मकरूप से जान लेने से शांति नहीं मान लेना, अभेद-दृष्टि प्रकट करना। २७२.

*

असल में आत्मा कैसे प्राप्त होवे?—यही एक ध्येय होना चाहिए। दूसरी–दूसरी बातों से क्या प्रयोजन? २७३.

*

इधर दृष्टि आते-ही सुख के स्रोत के स्रोत बहने लगेंगे। २७४.

*

जिस रस की रुचि होती है, उस रस की जिस निमित्त से कृत–कारित–अनुमोदनारूप पुष्टि मिलती है, उसी के संग का भाव होता है। देव–शास्त्र–गुरु शांतरस के निमित्त हैं, इसलिए (शांतरस की रुचिवाले को) उनके संग का भाव आता है। २७५.

*

निश्चयाभास के निषेध के लिए जब ऐसा कहने में आता है

कि : सुनने का भाव तो गणधर को भी आता है, अध्ययन का भाव तो मुनियों को भी आता है,—इत्यादि कथन आते हैं; तो अज्ञानी को व्यवहार-पक्ष की पुष्टि हो जाती है और निश्चयाभास हो जाने का डर लगता है, इससे (वह) निश्चयपर ज़ोर नहीं दे सकता और व्यवहार में तणीज (खिँच) जाता है—राग में आदरभाव रह जाता है। २७६.

*

मैं ऐसा पदार्थ हूँ कि, मेरे में भय का प्रवेश ही नहीं हो सकता है, (तो) फिर भय किस विषय का? २७७.

*

(सम्यग्दृष्टि) चक्रवर्ती को लोग (यों) देखें कि : यह छह खण्डवाला है। (परंतु) उसकी दृष्टि तो अखण्ड पर है। २७८.

*

(अभिप्राय की) ज़रा-सी भूल, वह भी पूरी भूल है। पर्याय ध्यान करनेवाली है, और मैं तो ध्यान की विषयभूत वस्तु हूँ; पर्याय मेरा ध्यान करती है, मैं ध्यान करनेवाला नहीं हूँ। 'मैं ध्यान करूँ' इस बात में; और 'मैं ध्यान करनेवाला नहीं, मैं तो ध्यान का विषय हूँ'—इस बात में ज़रा-सा फेर लगता है; परंतु है रात–दिन जितना बड़ा फेर। २७९.

*

प्रश्न : (ध्यान करते समय) सोऽहं.....सोऽहं...शिवोऽहं.... आदि शब्द क्यों बोलने में आते हैं?

उत्तर : यह तो सीधा ध्यान जम न सके तब इन शब्दों के द्वारा कषाय थोड़ा और पतला पड़ता है, इस लिए है। २८०.

*

''शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयम् ज्योति सुखधाम''—इसमें पर्याप्त बात बतला दी है। फिर जो बात आती है, वह तो परलक्ष्यीज्ञान की निर्मलता के लिए सहज हो तो हो। २८१.

*

दृष्टि की तुलना में चारित्र का पुरुषार्थ अनंतगुना है, लेकिन उसकी भी मुख्यता नहीं, दृष्टि के विषय की मुख्यता में उसकी भी गौणता रहती है। २८२.

*

बाहर से अपना कोई प्रयोजन ही नहीं, तो बाह्य पदार्थों से तो सहज-ही उदासीनपना रहे ही। २८३.

*

दृष्टि अपने को प्रभु ही देखती है। कमज़ोरी से विकल्प आया, तो अपनी निंदा–गर्हा भी होती है; 'मैं पामर हूँ' ऐसा भी विकल्प आता है; परंतु यह तो क्षण-पूरता ही विकल्प है, आ गया तो आ गया। २८४.

*

जैसे जिसको सूई (Injection) लेने की आदत हो गई हो उसको सूई लिए बिन चैन नहीं पड़ता; वैसे-ही जिसको सुनने आदि की आदत हो गई हो उसको उसके बिना चैन नहीं पड़ता। लेकिन तीव्र निषेध आए बिना उनसे छूट ही नहीं सकते। २८५.

*

प्रश्न : सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है?

उत्तर : सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा ध्रुव, अभेद,

एकरूप, शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ, अपरिणामी है। २८६.

*

दृष्टि में तो अपन प्रभु हैं। बाहर में अन्य को प्रभुता में आगे बढ़ा देखें, तो सहज-ही प्रमोदभाव आ जाता है, लेकिन ऐसा भाव भी क्षण-पूरता ही आता है, ज़्यादा लगाव नहीं होता। २८७.

*

इधर नहीं आया, तो पर्याय का विवेक भी नहीं होता। तो कहना पड़े कि, भाई! पर्याय का विवेक रखो। इधर आया, तो पर्याय का विवेक तो सहज-ही होता है। २८८.

*

एक समय की पर्याय को छोड़कर जो सामान्य वस्तु रह जाती है, वही दृष्टि का विषय है। २८९.

*

अनादि काल से भटकते-भटकते जब अपरिणामी में अपनापन हुआ कि 'मैं तो सदा मुक्त ही हूँ'—बस! यही जीवन की धन्य पल है। २९०.

*

वीतरागी के साथ राग करने का प्रयत्न मूर्खता है; वे तो तेरे को जवाब तक-भी नहीं देंगे। २९१.

*

अपने सहज सुख की पिपासा होनी चाहिए। जितनी तीव्र पिपासा उतना जल्दी काम होता है। २९२.

*

देव–गुरु से कुछ लेना नहीं है। उनके स्वरूप को देखकर 'मैं भी इन्हीं की जाति का हूँ'—ऐसा जानने में आता है; लेना–देना कुछ नहीं है। दूसरे के साथ लेने–देने का सम्बंध ही नहीं है। अशुद्धपर्याय का दूसरे की ओर लक्ष्य जाता है, किंतु दूसरे से लेन–देन का सम्बंध नहीं है। २९३.

*

जो पर्याय जिस काल में होनेवाली है, तभी होती है। मुनिदशा भी सहज होती है। पहले भावना होती है; लेकिन अभिप्राय की पहले प्रधानता करो; पीछे योग्यता प्रधानी हो जाओगे। जो पर्याय जब होनेवाली है, तब ही होती है। अपन तो जहाँ बैठे हैं, वहाँ कुछ करना–कराना नहीं है। अपन तो बंध और मुक्ति दोनों से रहित हैं। २९४.

*

दृष्टि के विषय की हर समय मुख्यता रहनी चाहिए। (दूसरी) चाहे जितनी बात आओ, लेकिन उसकी (दृष्टि के विषय की) गौणता नहीं होनी चाहिए। २९५.

*

पूरे 'समयसारजी' में छट्ठी गाथा में सम्यग्दर्शन का ख़ास विषय आ गया है। छट्ठी गाथा में सब से उत्कृष्ट बात आ गई है। ''मैं प्रमत्त भी नहीं, अप्रमत्त भी नहीं,'' कौनसी पर्याय बाक़ी रही? २९६.

*

देव–शास्त्र–गुरु की तरफ़ के लक्ष्य और वलण में भी भट्टी-सा दुःख लगना चाहिए। (ज्ञानी का) बाहर में उत्साह दिखता

है, लेकिन अंदर में (उसे) भट्टी-सा दुःख लगता है। २९७.

*

विकल्पात्मकभाव में यह निर्णय आया कि 'कुछ करना ही नहीं है', तो इतना मात्र विकल्पात्मक कर्तृत्व छूटनेपर आकुलता उतनी कम हो जाती है; फिर विकल्परहित निर्णय होनेपर सर्वथा कर्तृत्व छूटकर वास्तविक शांति होती है। २९८.

*

सुनने आदि के भाव ज्ञानी को, गणधर को भी आते हैं, तो अपने को क्यों न आएँ?—ऐसे-ऐसे पराश्रितभाव की (अज्ञानी) पुष्टि करता है। २९९.

*

मृत्यु के समय जीव को अपनी रुचि का विषय ही मुख्य हो जाता है; अन्य सभी चीजों से रुचि हट करके, जिसकी रुचि थी उसी एक चीज़ की मुख्यता हो जाती है। ऐसे जिसको आत्मा की रुचि है, उसको मृत्यु के समय अपना आत्मा ही मुख्य हो जाता है; उस समय तो सब कुछ समेट लेना है। दूसरे से कहे कि 'मुझे सुनाओ' तो उसकी योग्यता भी उसी प्रकार की है, तभी ऐसा विकल्प आता है। ३००.

*

एक (मूल) बात यथार्थ पकड़ में आनेपर सब बातें यथार्थरूप में ग्रहण होती हैं। ३०१.

*

अपने तो अपना समझना। दूसरा कैसा समझता है, कैसा

नहीं, इसका क्या प्रयोजन? दूसरे में रुकेगा, तो अपना काल व्यर्थ चला जाएगा। ३०२.

*

(जो) क्षयोपशम में बैठे हुए, 'द्रव्य ऐसा है.....ऐसा है'— ऐसे द्रव्य की बातें कर रहा है, वह तो दूर बैठकर द्रव्य की बात कर रहा है। ३०३.

*

जब अंतर्दृष्टि जमे, तब ही योग्यता का ज्ञान यथार्थ होता है; तभी 'योग्यता' कहने का अधिकार है। ३०४.

*

(निर्विकल्प दशा में) बिजली के करंट की माफ़िक अतीन्द्रिय सुख प्रदेश-प्रदेश में व्यापक होकर प्रसर जाता है। झनझनाहट! काल थोड़ा होनेपर भी क्या? ३०५.

*

आत्मा तो गम्भीर है, समुद्र की माफ़िक अनंत शक्तियाँ अपने में संग्रह करके बैठा है, इसकी दृष्टि होते-ही ज्ञान में भी गम्भीरता और विवेक आता ही है। ३०६.

*

बाहर के संग का निमित्त-नैमित्तिकसम्बंध भी पर्याय के साथ है, मेरे साथ नहीं। लेकिन जिसको पर्याय में ही एकत्वबुद्धि है, उसकी बुद्धि तो निमित्त के साथ लम्बाती है; किंतु ज्ञानी को पर्याय में एकत्वबुद्धि नहीं है, तो उसकी निमित्त के साथ भी एकत्वबुद्धि नहीं होती है। ३०७.

*

संसार में हर विषय में प्रयास करते हो, तो इधर का प्रयास भी करो न! इस प्रयास में तो उत्कृष्ट शुभभाव होता है, जो अन्य किसी जगह नहीं होता। यह भी है तो कृत्रिम प्रयास, लेकिन अकृत्रिम प्रयास के पहले यह भी आए बिना नहीं रहता। ३०८.

*

नित्य पड़खा और अनित्य पड़खा—ये दोनों पड़खे एक वस्तु के हैं; अब मतलब प्रयोजन-सिद्ध करने का है, तो वह तो नित्य पड़खे को मुख्य करने से और अनित्य पड़खे को गौण करने से ही सिद्ध होता है। ३०९.

*

(विकारी) पर्याय पर की ओर तन्मयता करती है लेकिन पर के साथ तन्मय हो सकती नहीं; अंतर्मुहूर्त से अधिक पर की ओर टिक नहीं सकती। (जबकि शुद्ध) परिणाम त्रिकाली के साथ तन्मयता करे, तो (वह) वहाँ तो तन्मय हो जाता है (और) वह तन्मयता सदा काल टिकती है। ३१०.

*

जितनी धगश उग्र, उतनी ज़ल्दी कार्य होता है। ३११.

*

प्रश्न : मुनि को वस्त्रादि नहीं होने से दुःख नहीं होता होगा?

उत्तर : मुनिराज को दुःख कैसा?! उनके तो अंतर में आनंद का स्रोत बहता है, बिज़ली के करंट की माफ़िक आनंद चलता है। उनको तो वस्त्र की वृत्ति का उठना ही दुःख है और जो शुभवृत्ति उठती है वह भी भयंकर दुःखरूप लगती है। ३१२.

*

तू तो अनंती पर्यायों का पिण्ड है; यदि तू एक पर्याय में आ गया, तो अन्य सभी पर्याएँ विधवा हो जाएँगी।

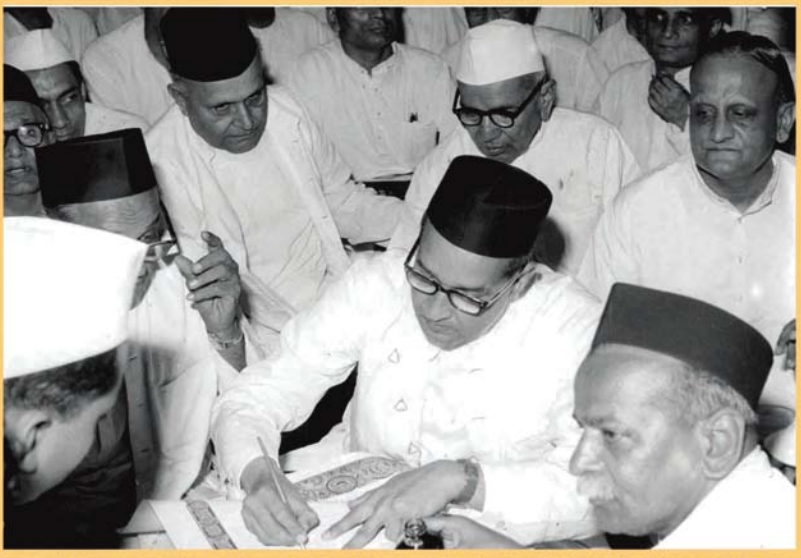

मैं तो विकल्प से शून्य हूँ और मेरे भावों से मैं भरपूर हूँ। ३१३.

*

अध्ययन आदि का काफ़ी रहस्य पूज्य गुरुदेवश्री से अपने को मिल गया है। 'क्रमबद्ध' कहाँ लिखा है, अपने को क्या दरकार है? सिद्धांत बैठ गया और अनुभव में आ गया, फिर क्या काम?—ऐसे महाराजसाहब से सब बातें अपने को तैयार मिल गई हैं, जैसे कि पिता की कमाई हुई पूँजी वारिसे में (विरासत में) बिना प्रयत्न के मिल जाए। ३१४.

*

प्रश्न : ज्ञानी को विषयों में आसक्ति नहीं है, इसका मतलब क्या?

उत्तर : अन्य मतवाले तो इसको दूसरी तरह से कहते हैं, लेकिन वैसा नहीं है। यथार्थ में तो ज्ञानी को अपने त्रिकाली स्वभाव में ऐसी आसक्ति हो गई है कि, अन्य किसी पदार्थ में आसक्ति होती ही नहीं, (वे) स्वभाव में इतने आसक्त हैं। ३१५.

*

प्रश्न : पहले तो (बाह्य) आलम्बन लेना चाहिए न?

उत्तर : पहले से ही 'मैं परिपूर्ण हूँ' उसको आलम्बन कैसा? ऐसा लेकर, (बाह्य) आलम्बन से नुकसान ही है, ऐसे निषेधपूर्वक थोड़ा आलम्बन आ जाता है; लेकिन अभिप्राय में आलम्बन नहीं होना चाहिए—(बाह्य) आलम्बन में पहले से ही निषेधभाव होना चाहिए। ३१६.

*

मृत्यु के समय 'मुझे (कोई) सुनाओ' ऐसा भाव जब उठता है, तब तो स्वयम् की तैयारी नहीं है। (जिसको) अंदर में (स्वरूप-घोलन) चल रहा है उसको 'कोई दूसरा सुनाए' ऐसा विकल्प ही नहीं उठता, उसको तो उस समय अधिक बल होवे, तो निर्विकल्पता आ जाती है; अगर निर्विकल्पता नहीं आती है, तो भी स्व की अधिकता तो छूटती ही नहीं। ३१७.

*

'स्वद्रव्य में जम जाना' यह एक-ही कर्तव्य है, वह भी परिणाम की अपेक्षा से। मेरी अपेक्षा से तो मैं कृतकृत्य ही हूँ, कुछ-भी कर्तव्य नहीं। मैं तो अनंत वीर्य की खान हूँ। ३१८.

*

दूसरे सब पदार्थों को तो छोड़ा और देव–गुरु को चौंटा; अब वहाँ से भी उखड़कर इधर चौंटो! ३१९.

*

मैं तो चैतन्य प्रतिमा हूँ। यह (बाह्य) प्रतिमा कुछ नहीं देती, इससे उपकार नहीं हो सकता, (उपचार से) कहने में आता है। असल में तो उसका स्वरूप—अहो! वीतरागी शांत मुद्रा—देखकर बस! 'मैं भी ऐसा ही हूँ' (—ऐसी प्रतीति होती है)। ३२०.

*

जैसे वीर रसवाले को शरीर छूट जाने का डर नहीं; वैसे-ही शांत रसवाले को पूरा जगत् प्रतिकूल हो जाए, शरीर छूट जाए या ऐसा-ही कोई प्रसंग आ जाए, तो भी वह डिगता नहीं। ३२१.

*

मुझे तो शुद्ध पर्याय भी करनी नहीं है, न पुरुषार्थ करना

है, न ज्ञान करना है और न ही श्रद्धान करना है—यह सब तो परिणाम का कार्य है और मैं तो अपरिणामी हूँ, परिणाम में कभी जाता ही नहीं, तो मैं उसका क्या करूँ? परिणाम ही स्वयम् पुरुषार्थ आदि रूप होता है। ३२२.

*

सुननेवाले को (तो) दीनता है ही। लेकिन दूसरों को सुनाना चाहते हो, तो वह भी दीनता है। ३२३.

*

प्रश्न : प्रयास तो करना चाहिए न?

उत्तर : अरे भाई! कृत्रिम प्रयास से क्या होगा?—उसपर वज़न नहीं आना चाहिए। 'मैं वर्तमान में ही निष्क्रिय चैतन्य हूँ'—वहाँ आया, तो पर्याय में प्रयास सहज उठता ही है। मैं तो अनंत पुरुषार्थ की खान हूँ न! एक समय के प्रयास में थोड़े-ही आ जाता हूँ? ३२४.

*

'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ', फिर मुक्ति का प्रयास करने का भी सवाल नहीं उठता। करना क्या है?—परिपूर्ण में मुक्ति क्या करना! ३२५.

*

प्रश्न : राग को ज्ञान का ज्ञेय तो बनाना है न?

उत्तर : राग को ज्ञान का ज्ञेय बनाने जाते हैं, यह दृष्टि ही ग़लत है। खुद को ज्ञेय बनाया, तो राग उसमें जणीजता ही है; राग को ज्ञेय क्या बनाना? ३२६.

*

प्रश्न : स्व–पर की प्रतीति करने का तो शास्त्र में आता है न?

उत्तर : अरे! स्व की प्रतीति करो। पर की प्रतीति उसमें आ जाएगी। अपनी खुद की प्रतीति करो। ३२७.

*

त्रिकाली का पक्ष करो। ऐसा पक्ष करो कि, अनंतकाल में कभी हुआ न हो। वर्तमान का पक्ष छोड़ो। ३२८.

*

प्रश्न : अनुभव में आवे, तो इधर बैठा कहा जाए न?

उत्तर : अनुभव की दरकार छोड़ दो। स्वाद लेना यह कोई ध्येय थोड़े-ही है? ध्येय का पक्ष करना चाहिए। ३२९.

*

प्रश्न : पक्ष इधर आए बिना कैसे करें?

उत्तर : अरे भाई! विकल्पात्मकभाव में तो यह पक्ष करो। पीछे इधर जम जाओ। ३३०.

*

(स्वरूप की) ऐसी रुचि होनी चाहिए कि, उसके बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ३३१.

*

प्रश्न : राग ज्ञेय है या दुःखरूप है?

उत्तर : इधर आया तो राग ज्ञान में ज्ञेयरूप जानने में आता है और वेदन में दुःखरूप लगता है। ३३२.

*

राग भी उसी समय-पूरता सत् है, उसको खिसकाने जाएगा, तो तू खुद ही खिसक जाएगा। उसको (राग को) उसी में रहने दो, तुम तुम्हारे में रहो, वह स्वयम् ही चला जाएगा। ३३३.

*

मैं तो महाराजसाहब को शुद्ध–निष्क्रिय–चैतन्यबिम्ब ही देखता हूँ। जो भी विकल्प–वाणी–शरीर की क्रियाएँ हो रही हैं उनको (मैं) महाराजसाहब नहीं मानता। ३३४.

*

मोक्ष होवे न होवे, उसकी दरकार नहीं; सुख चालू हो गया फिर पर्याय में मोक्ष (तो) होगा ही। ३३५.

*

सभी शास्त्रों का—बारह अंग का—सार तो मैं हूँ; शेष सब बातें तो जानने की हैं। अपने को दृष्टि में ले लेने पर जो ज्ञान उघड़ता है, वह सब जान लेता है। ३३६.

*

विकल्प में तीव्र दुःख लगे और विकल्प में तणीजता नहीं, उसे मचक कहते हैं। जिसे मचक में (राग में) दुःख ही न लगे, उसको तो मचक में ही अमचक है अर्थात् वह मचक में ही समूचा चला जाता है; उसे मचक कहने का भी अधिकार नहीं है। ३३७.

*

दृष्टि की बात तो मुख्य रखकर सब ख़तौनी करनी चाहिए। इधर दृष्टि होनेपर जो ज्ञान हुआ, वह वस्तु को जैसी है वैसी ही जान लेता है। इस दृष्टि के बिना तो किसी बात में अधिक

खिंचा जाता है या किसी बात को ढ़ीला कर देता है। परंतु दृष्टि होनेपर ज्ञान जिसकी जितनी–जितनी मर्यादा है उसके अनुसार ही जानता है। ३३८.

*

शास्त्र में सभी प्रकार की, सब पड़खों की बातें न्याय, तर्कादि से आती हैं। कोई जीव वेदांत में से आया हो, कोई कहाँ से आया हो, किसी का कैसा अभिप्राय रहा हो, अतः सब प्रकार से (विपर्यास का) खण्डन कर, यथार्थ बात आनी चाहिए। ३३९.

*

सब शास्त्रों का मूल तो अनुभूति पर ही आना है। ३४०.

*

जिसको अनुभूति हुई हो, वह जीव अनुभव के बल से कौनसी बात सत्य है? फ़ौरन् जान लेता है। ३४१.

*

इधर दृष्टि हुए बिना ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। दृष्टि होनेपर उत्पन्नं हुआ ज्ञान अपना कितना अटकाव है, अपनी स्वभाव में कितनी जमावट है, कितना रस है?—यह सब सहज जान लेता है। ३४२.

*

अपने को तो ज़्यादा ज्ञान का लक्ष्य नहीं है, सुख पीने का भाव रहता है। केवलज्ञान पड़ा है, उसके उघड़ने पर ज्ञान तो सब का हो जाएगा। (अंगत)। ३४३.

*

सुख का अनुभव हुआ सो किसी को पूछना नहीं पड़ता। दूसरे ना कहें, तो कहें, अपने को तो प्रत्यक्ष सुख आ रहा है न! (अंगत)। ३४४.

*

इधर वर्तमान में ही मुक्ति पड़ी है, वह दृष्टि में आ गई, तो दृष्टि में तो मुक्ति वर्तमान में ही हो गई और व्यक्त में भी आंशिक मुक्ति आई। और इसमें मुक्ति है, तो मुक्तदशा प्रकट होगी ही। ३४५.

*

एक-भी विकल्प जो उठता है वह चाहे चिंतन का ही क्यों न हो (उसमें) ऐसा लगना चाहिए कि, मानो अपन छुरों के बीच में पड़े हैं। विकल्प में दुःख ही दुःख लगे तब ही सुख की ओर ढलना होता है। ३४६.

*

शक्ति में सुख भरा पड़ा है। विकल्प में दुःख ही दुःख लगे, तो सुख प्रकटे बिना न रहे। ३४७.

*

स्वाध्याय को तप कहा है, लेकिन अरे भाई! इधर अपनी ओर चैतन्य में जम जाना, यह परम तप है। स्वाध्याय तो विकल्प है, उसे उपचार से तप कह देते हैं। ३४८.

*

प्रश्न : इसको आँगन तो कहें न?

उत्तर : यह आँगन तो है न! आँगन तो है न!—ऐसे

वज़न देकर के जीव अटक जाते हैं। परंतु आँगन घर थोड़े-ही है? घर में तो उसका अभाव है। ३४९.

*

जैसे व्यापारी माल देता है और उसके पैसे ग्राहक देता है; दोनों का अपना-अपना कारण है, एक दूसरे के लिए नहीं करते हैं। वैसे-ही सुनानेवाले (ज्ञानी) को अपने कारण से मचक आती है और करुणा से उपदेश का विकल्प आता है और सुननेवाले को अपने कारण से सुनने का भाव होता है।

जैसे व्यापारी को अन्यत्र पैसे का बड़ा लाभ होनेवाला हो, तो वह ग्राहक के लिए नहीं रुकता है। वैसे-ही यहाँ भी सुनानेवाले का विकल्प टूट जाए, तो वह सुननेवाले के लिए रुकता नहीं है। ३५०.

*

मूल बात में अपेक्षा लगाता है, तो मुझे तो खटकता है, (क्योंकि) उसमें जो तीखास होती है वह टूट जाती है, अपेक्षा लगाने से ढीलापन हो जाता है। ३५१.

*

प्रश्न : अनंत ज्ञानियों का एकमत होने से ज्ञानी को निःशंकता आ जाती है?

उत्तर : अनंत ज्ञानियों का एकमत होने से नहीं परंतु अपना सुख पीने से ज्ञानी को निःशंकता आ जाती है। ३५२.

*

ख़ाली निश्चय की बात करे और अशुभ में रस पड़ा रहे,

तो वह निश्चयाभासी हो जाता है। परंतु जो निश्चय स्वभाव में ज़ोर देकर पर्याय की गौणता करे, वह निश्चयाभासी कैसे होवे? ३५३.

*

प्रश्न : भक्ति–पूजा में आप कम जाते हो; चौबीसों कलाक (घण्टों) निर्विकल्पता थोड़े-ही रहती है?

उत्तर : अरे! चौबीसों कलाक निर्विकल्पता नहीं रहती है परंतु उस तरफ़ ढलने का प्रयास तो हो सकता है न? क्या इसमें शुभभाव नहीं है? इसमें तो ज़्यादा शुभभाव है, उसकी तो गिनती ही नहीं और शरीरादिक की क्रिया हो, उसको गिनते हो! ३५४.

*

जिस अपेक्षा से वस्तु का जो स्वभाव है, उस अपेक्षा से शत प्रतिशत वैसा-ही एकांत स्वभाव है, वह स्वभाव अन्य अपेक्षा लगाने से ढीला नहीं हो सकता। ३५५.

*

भक्ति का रागांश कभी तीव्र आ जाता है, वह भी सहज-ही आ जाता है। अपनी तो सहज प्रकृति है, बलज़ोरी अपने से नहीं होती। (अंगत)। ३५६.

*

परिणाम का विवेक तो जो अनंत सुखी होना चाहते हैं उनको सहज होना चाहिए। ३५७.

*

'पुरुषार्थ करूँ', 'ज्ञान करूँ' —यह अभिप्राय भी हटा दें। तू वर्तमान में ही पुरुषार्थ की खान है। वर्तमान परिणाम ऊपर की दृष्टि झूठी है। ३५८.

*

निमित्तों से तो किंचित् मात्र लाभ नहीं है बल्कि उघाड़ज्ञान से भी कुछ लाभ नहीं है। उघाड़ज्ञान में तुझे हर्ष आता है, तो त्रिकालस्वभाव की तुझे महत्ता नहीं आई है। ३५९.

*

दृष्टि तो अस्थिरता और स्थिरता दोनों को ही नहीं क़बूलती है। ३६०.

*

अपने त्रिकालस्वभाव को पकड़े बिना जीव को निश्चयप्रतीति आएगी ही नहीं। ३६१.

*

सहज पुरुषार्थ में थकान नहीं लगेगी। सोने आदि के भाव में भी दुःख लगेगा। निद्रा में भी थकान लगेगी। ३६२.

*

'त्रिकालस्वभाव' और 'परिणामस्वभाव' यह दोनों सर्वथा जुदे ही हैं लेकिन समूचे (—प्रमाण के) द्रव्य की अपेक्षा से उनको एक कहने में आते हैं। ३६३.

*

पर्याय-अपेक्षा से मैं शुद्धभाव का कर्ता हूँ लेकिन अशुद्धभाव का मैं कर्ता नहीं हूँ। ३६४.

*

एक समय के परिणाम—बंध-मुक्त—से वस्तु शून्य है, ऐसा 'परमात्मप्रकाश' में कहा है। ३६५.

*

सुनने-करने में (शुभभाव में) थकान आनी चाहिए।

प्रश्न : वह तो औषधि है, अमृत थोड़े-ही है?

उत्तर : औषधि कहने में भी ढीलापन हो जाता है, ज़हर ही है। श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य ने तो कहा ही है न कि "विषकुम्भ है।" एक दफ़ा तो जड़मूल में कुल्हाड़ा मार दो। ३६६.

*

प्रश्न : एक समय के आनंद का अनुभव तो पकड़ने में आता नहीं, तो कैसे ख़बर पड़े?

उत्तर : अरे भाई! अनुभव खुद के ख़याल में नहीं आवे, ऐसा होता ही नहीं। परंतु वह परिणाम हुआ कि नहीं?—ऐसे विचार कर-करके क्या उसमें संतोष करना है? अरे! सदा ही निर्विकल्प रहे तो भी उसकी मुख्यता नहीं करनी है। ३६७.

*

'दृष्टि' ऐसी प्रधान चीज़ है कि, स्वभाव में दृष्टि जमते ही (सब) परिणाम खिलने लगते हैं। ३६८.

*

पूज्य गुरुदेवश्री घोलन से पर हैं; लेकिन उनके घोलन में पर-प्रति जो करुणा है उससे न्याय आदि निकलते हैं। जैसे पिता का धन पुत्र बिना श्रम भोगता है, वैसे-ही गुरुदेवश्री से मिले हुए न्याय आदि को अपन बिना श्रम भोगो। ३६९.

*

परिणाम से भी ऊँडा, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व जो है, सो मैं हूँ। ३७०.

*

बिज़ली का करंट लगते-ही भय लगता है और उससे हटना चाहते हैं। लेकिन त्रिकाली स्वभाव में प्रवेश करते-ही आनंद की ऐसी सनसनाहट होती है कि, उस आनंद से क्षण मात्र भी हटना नहीं चाहते हैं। ३७१.

*

ज्ञान के उघाड़ में रस लगता है, तो तत्त्वरसिक जन कहते हैं कि : हमको तेरी बोली में रस नहीं आता। हमें तो तेरी बोली काक पक्षी जैसी लगती है। ३७२.

*

सम्यग्दृष्टि जीव अपने को सदा 'त्रिकाली आत्मा हूँ' ऐसा ही मानते हैं। 'मैं ध्रुव सिद्ध हूँ'—जिसमें सिद्ध-दशा की भी गौणता रहती है। सिद्ध-दशा का भी प्रति समय उत्पाद-व्यय होता है; 'मैं तो सदा ध्रुव हूँ'। ३७३.

*

अपने नाप से दूसरे का नाप करना—यही दृष्टि का स्वभाव है। ३७४.

*

मैं त्रिकाली स्वभाव कभी बँधा ही नहीं हूँ, तो फिर मुझे मुक्त कहना तो गाली है। पर्याय को मुक्त कहो वह तो ठीक है, क्योंकि वह बँधी हुई थी। परंतु मुझे तो मुक्त कहना भी ठीक नहीं है। ३७५.

*

परिणति द्रव्य को कहती है कि : मैं भी स्वयम् सत् हूँ, स्वतंत्र हूँ, द्रव्य का अवलम्बन लेती हूँ, यह भी अपेक्षा से कहने में आता है; क्योंकि पर-तरफ़ का वलण छूटा है, इसलिए ऐसा कहने में आता है। असल में तो परिणति अपने स्व-सत् में ही है। ३७६.

*

इतनी-सी बात है : जो उपयोग पर में झुकता है, उसको स्व में झुकाने का है। ३७७.

*

बात यह है कि, जितना तीव्र दुःख पर्याय में लगे उतना ही शीघ्रता से मार्ग प्राप्त होवे; कम दुःख लगे, तो देरी लगे। ३७८.

*

ध्रुवगुफा के अंदर चले जावो वहाँ आनंद और सुख का निधान भरा है, उसको नित्य भोगो। ३७९.

*

पुरुषार्थ तो चारित्र में है, दृष्टि में क्या पुरुषार्थ?

प्रश्न : क्या दृष्टि में पुरुषार्थ नहीं है?

उत्तर : दृष्टि में पुरुषार्थ तो है, लेकिन चारित्र की अपेक्षा से बहुत कम पुरुषार्थ है। चारित्र में तो बड़ा पुरुषार्थ है। ३८०.

*

उपयोग बाहर ही बाहर घूमता रहे बस! यही बिमारी है, इसी को मिटाना है। ३८१.

*

निवृत्तस्वरूप की ओर जाना है, तो बाहर में भी निवृत्ति का ही लक्ष्य जाता है। ३८२.

*

निवृत्ति लेकर एकांत में आचार्यों के शास्त्र पढ़ें, तो उनमें से बहुत बातों निकलती हैं; उनमें तो बहुत भरा है!! आचार्यों के जो शब्द हैं न वे आनंद की बूँद....बूँद हैं; एक–एक शब्द में आनंद की बूँद....बूँद टपकती है, तो हमें रस आता है। ३८३.

*

मेरी तो ऐसी आदत पड़ गई है कि : बाहर में चाहे जैसी खड़खड़ाहट हो परंतु मेरे तो इधर (अंतर्-परिणमन) चलता है न! तो उधर का लक्ष्य ही नहीं रहता। खड़खड़ाहट तो पसंद ही नहीं है। (अंगत)। ३८४.

*

मुझे तो एकांत के लिए समय नहीं मिले, तो चैन ही नहीं पड़ता। (अंगत)। ३८५.

*

प्रश्न : घरवालों की हरएक प्रकार की प्रतिकूलता होने से अपना कार्य कैसे करूँ?

उत्तर : अपने अंदर में बैठकर अपना काम करो। अपना यह कार्य अंदर में बैठकर करने में न घरवाले जानेंगे और न बाहरवाले जानेंगे। अपन क्या करते हैं और कहाँ हैं, यह भी कोई नहीं जानेगा।—ऐसे अंदर में अपना काम हो सकता है। ३८६.

*

प्रश्न : समझ न होवे तो ?

उत्तर : अरे ! तीव्र धगश (उत्कंठा) होगी, तो समझ भी आ जाएगी । ३८७.

*

देव आदि तथा स्त्री आदि सभी एक अशुद्धता के ही निमित्त हैं और शुद्धता का निमित्त तो एक आप ही है । ३८८.

*

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव भी नपुंसकता है—अपन तो ऐसे लेते हैं । ३८९.

*

अपने यहाँ तो कच्ची-पक्की भूमिका की बात ही नहीं है । जो भूमिका प्रथम है, सो ही अंत में है । अर्थात् अपन तो ऐसी भूमिका लेते हैं जो सदैव टिकती है, त्रिकाल है । ३९०.

*

त्रिकाली में एकत्व होनेपर राग ऐसा भिन्न दिखता है कि, जैसे अन्य चीज़ प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देती है—राग इतना प्रत्यक्ष जुदा दिखता है । ३९१.

*

भगवान् की भक्ति का अर्थ : गुणानुवाद । शास्त्रस्वाध्याय में तो इससे भी अधिक भक्ति है । ३९२.

*

विकल्प में दुःख ही दुःख लगना चाहिए । न्याय-युक्ति से

तो ऐसा माने कि : ये विकल्प शांति को रोकते हैं, अनुभूति को रोकते हैं, तो दुःखरूप हैं। किंतु अनुभव में लगे, तो दुःख से हटकर सुख की ओर जावे ही। ३९३.

*

बंधनरहित स्वभाव के लिए वाँचन–मनन घूँटण करूँ, तो पकड़ में आवे—ऐसी बात ही नहीं है। 'मैं त्रिकाली ही हूँ'—ऐसे वर्तमान में ही उसमें थँभ जावो, (तो वह पकड़ में आए ऐसा है)। ३९४.

*

परम शुद्ध निश्चयनय से आत्मा बंधन का और मुक्ति का कर्ता ही नहीं है, तो विकल्प का और मोक्ष के कर्तृत्व का ज़ोर ख़त्म हो जाता है। त्रिकाली में जमें रहें, तो पर्याय भी इधर में सहज-ही आएगी। ३९५.

*

त्रिकाली शक्ति में अपनापन होते ही (अन्य) सभी आलम्बन उखड़ जाते हैं। ३९६.

*

चर्चा–वार्ता होती है तो स्पष्टता होती है।

प्रश्न : फिर-भी आप चर्चा आदि का निषेध क्यों करते हैं?

उत्तर : निषेध तो हर क्षण पग–पग पर करना ही चाहिए। इधर ढलता जाता है, तो निषेध होता जाता है। ३९७.

*

प्रश्न : आपकी बात में क्रम आता ही नहीं, आप तो एकदम अक्रम की बात करते हैं।

उत्तर : क्रम–क्रम क्या? अक्रम को (सामान्य को) पकड़े, तो क्रम (विशेष) स्वयम् होता है। ३९८.

*

प्रश्न : यह सब ख़याल में होते हुए भी अंदर क्यों नहीं जम पाते?

उत्तर : वाँचन–विचार आदि में अंदर से ही खरेखर दुःख ही दुःख लगना चाहिए, तभी उधर से छूटकर (इधर) अंदर में गए बिना नहीं रह सकते। युक्ति आदि से दुःख समझा, वह तो सहज दुःख कहाँ लगा? अंदर से तीव्र दुःख सहज लगे, तो उधर में थकान लगने से, वहाँ रुक ही नहीं सकते, इसी से स्वरूप में सहज-ही आना होता है। ३९९.

*

(त्रिकाली में) ढलन तो निरंतर रहती ही है; तत्त्व-विचारकाल में विशेष होती है, लेकिन विचार तो अटकाव ही है, यह विशेष ढलन का कारण भी नहीं है। शुभाशुभप्रवृत्ति में अंदर में ढलन चलती है और वृद्धि होती है; तत्त्व-विचार के काल में विशेष वृद्धि होती है, लेकिन ये विशेष वृद्धि के कारण नहीं हैं, वे तो अटकाव ही हैं, इसलिए विचार में अधिकता नहीं होती।

त्रिकाली में ढलन होने से अपन ने तो पर्याय मात्र को गौण कर दिया है, ध्रुवदल ही अधिक है। (अंगत)। ४००.

*

दुःख है तो सही, मगर उस दुःख से बचाएगा कौन? ''खुद ही शरण है''—यही पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं। ४०१.

*

मुक्त-शुद्धपर्याय से द्रव्य को मुक्त व शुद्ध बताना—वह तो कलंक है। स्त्री द्वारा पुरुष (—पति) की पहचान कराना, वह तो पुरुष की हीनता है। ४०२.

*

खुद से च्युत होना ही सब से बड़ा पाप है। ४०३.

*

व्यवहार से जो-जो साधन कहने में आते हैं, वे सभी (निश्चय से) एकांतरूप से बाधक हैं। ४०४.

*

(मुनि को) विकल्प-अंश क्षण भर आता है, तो कहते हैं कि: 'आकाश आदि से भी गुरु महान् हैं, गुरु की महानता में तो आकाश राई के दाने के समान है।'—ऐसा सुनकर (व्यवहार के पक्षवाला जीव) वहाँ चौंट जाता है कि 'इतने महान् हैं, तो मैं विनयादि बराबर करूँ, नहीं तो निश्चयाभासी हो जाऊँगा।' परंतु भाई! निश्चयगुरु तो अपना आत्मा है—वह पड़ा रहा! ४०५.

*

दृष्टि का नशा चढ़ जाए, तो बारम्बार अंतर में ही वलण होता है, बाहर में कुछ रुचता ही नहीं। ४०६.

*

प्रश्न : तो क्या नशे की माफ़िक दृष्टि का स्वरूप है? अन्य कुछ देखती ही नहीं!

उत्तर : हाँ; दृष्टि का नशा ही ऐसा है, अन्य कुछ देखती ही नहीं, एक अपनी ओर ही दौड़ती है। इसी लिए तो कहते हैं कि : सम्यग्दृष्टि को बाहर में, चर्चा आदि में रुकना रुचता ही नहीं, वह तो अंदर ही अंदर जाना चाहता है। ४०७.

*

शास्त्र में आता है कि : मुनि को रोग आदि होनेपर वैयावृत्य करनी चाहिए। अरे भाई! ऐसा तो उस काल में सहज विकल्प में खड़ा हो, उसकी बात है। 'मुझे ऐसा करना चाहिए, ऐसा करना चाहिए'—ऐसी पहले से दृष्टि रखी तब तो आस्रव की भावना हो गई। ४०८.

*

अलग–अलग काल में क्षणिक शुभविकल्प जो योग्यतानुसार होनेवाले हैं सो हो जाते हैं।

प्रश्न : 'भूमिकानुसार ऐसे विकल्प होते हैं', ऐसा न लेकर, 'होनेवाले होते हैं' ऐसा क्यों लेते हैं?

उत्तर : 'भूमिकानुसार ऐसे विकल्प होते हैं' ऐसे लेने में, उसकी दृष्टि वैसे परिणाम करने में चौंट जाती है। और 'होनेवाले योग्यतानुसार होते हैं' इस (अभिप्राय में), दृष्टि परिणाम करनेपर नहीं रहती बल्कि अपरिणामीपर दृष्टि का ज़ोर रहता है। ४०९.

*

असल में तीव्र रुचि हो, तो त्रिकाली दल में ही जम जाए;

इधर-उधर की जँचे (रुचे) ही नहीं, योग्यता पर छोड़ देवे, वहाँ ज़ोर रहे ही नहीं, दृष्टि के विषय में ही ज़ोर रहे। ४१०.

*

सुनने-करने आदि के भाव में जो पुण्य होता है, वह तो मध्यम प्रकार का पुण्य है और इधर स्वसन्मुखता का प्रयास चलता हो उसमें उत्कृष्ट पुण्य होता है। ४११.

*

वेदन में दुःख लगे, सह न सके, तो अवेदक स्वभाव को पकड़े बिना न रहे। ४१२.

*

(चर्चा सुननेवालों को लक्ष्य में लेकर :) सुनने की रुचि तो सभी की ठीक है; परंतु उससे अनंतगुनी रुचि अंदर की होनी चाहिए। ४१३.

*

प्रश्न : सुख तो अंदर में है, फिर वृत्ति बाहर में क्यों दौड़ती है?

उत्तर : सुख अंदर में लगा ही नहीं। वह तो नामनिक्षेप से ख़याल में आया है कि 'सुख यहाँ है'; असल में तो वैसा लगा नहीं। ४१४.

*

प्रश्न : अब तो प्रयोग करने का रहता है?

उत्तर : फिर भी वही बात आ जाती है! प्रयोग ही मैं नहीं हूँ, तो करना क्या? प्रयोग पर्याय में हो जाता है। ४१५.

*

असल में बलवान् वस्तु का बल आना चाहिए। ४१६.

*

'विकल्प दुःखरूप लगना'—यह भी नास्ति है। अस्ति में तो 'मैं सुख से भरपूर हूँ, सुख की खान हूँ।' ४१७.

*

(चर्चा सुननेवालों के प्रति :) सभी की लगनी तो अच्छी है; लेकिन यथार्थ लगनी लगे, तो हर समय यही चलता रहे, कितना समय चला जाए मालूम ही न पड़े। रुचि का स्वरूप ही ऐसा है कि : जहाँ लगे वहाँ काल दिखे ही नहीं। ४१८.

*

प्रश्न : परिणति को अंदर कैसे वालना (अंतर्मुख करना)?

उत्तर : परिणति को 'वालना' और 'नहीं वालना', वह 'मैं नहीं हूँ'—ऐसी दृष्टि होते-ही परिणति वल (झुक) जाती है। ४१९.

*

किसी के भी प्रति अनहद प्रेम हो, तो खुद को ही भूल जाते हैं। ४२०.

*

बात सुनते-ही चोट लगनी—यह भी एक पात्रता है। ४२१.

*

बोलने में खुद का अभिप्राय आए बिना रहता ही नहीं। दूसरे की बात कहने जावे लेकिन अपना रस साथ में आ जाता है। ४२२.

*

(अज्ञानी की) धारणा तो बंद तिज़ोरी के माफ़िक है, धारणा जवाब नहीं देती। प्रसंग आनेपर दुःख तो वेद ही लेवे, और फिर थोड़ी देर पीछे स्मरण करके समाधान करे—ऐसी धारणा का क्या? अनुभववाले की तो तिज़ोरी खुली हुई है। ४२३.

*

'पक्ष करना' कहने में आता है, तो जीव पक्ष में बैठ जाता है। अरे भैया! पक्ष तो हो जाता है; स्वभाव रुचता है, तो स्वभाव का पक्ष हो ही जाता है। लेकिन पक्ष करने तक का ही प्रयोजन थोड़े है? ४२४.

*

प्रश्न : पहले चिंतन होता तो है न?

उत्तर : अरे भाई! पहले-पीछे की बात ही नहीं है; 'मैं ही पहला हूँ'—यहाँ से लो। चिंतन हो....लेकिन 'पहले' कहने से तो उसपर वज़न आ जाता है।

चिंतन आदि से आगे बढ़ना होता है—ऐसा कहने में आता है; चूँकि पहले लक्ष्य यथार्थ हो गया है, तो इसका चिंतन चलता है, लेकिन इसका भी निषेध करते-करते आगे बढ़ता है। ४२५.

*

'ख़ुद ही से काम होगा'—यह तो पहले ही पक्का हो जाना चाहिए। ख़ुद का बल आए बिना तो (अन्य) कोई आधार (उपाय) नहीं है। ४२६.

*

'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ'—ऐसा सुनते-ही, 'कुछ

करना–कराना है ही नहीं'—ऐसा उल्लास तो प्रथम से ही आना चाहिए और फिर उसी की पूर्ति के लिए प्रयास करना है। ४२७.

*

'पहले मैं सब समझ लूँ, पीछे प्रयास करूँगा'—ऐसे तो कार्य होगा ही नहीं। प्रयास तो सुनते-ही चालू हो जाना चाहिए। फिर थोड़ी रुकावट आवे, तो उसे दूर करने के लिए सुनने–समझने का भाव आता है; परंतु 'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ'—वहाँ चौंटे रहकर ही सब प्रयास होना चाहिए—वहाँ से तो छूटना ही नहीं चाहिए। ४२८.

*

केवलज्ञान से अपने को लाभ होनेवाला नहीं और शुभाशुभभावों से अपने को नुकसान होनेवाला नहीं, 'मैं तो ऐसा तत्त्व हूँ।'

जैसे कोई मेरु से माथा फोड़े, तो उससे मेरु हिलता नहीं है; ऐसे-ही परिणाम मेरे से टकराते हैं तो भी अपन परिणाम से हिलनेवाले नहीं हैं। ४२९.

*

परिणाम में बैठे हो, तो द्रव्य में बैठ जाना है। परिणाम तो कम्पायमान हैं। द्रव्य निष्कम्प है। काँपनेवाले परिणाम के आश्रय से कम्पित ही रहोगे। निष्कम्प द्रव्य के आश्रय से निष्कम्पता होगी। ४३०.

*

संग करने का भाव आवे, तब भी 'संग नहीं करना है'—

ऐसा भाव क़ायम रख कर ही संग का भाव होना चाहिए। ४३१.

*

अपने को भावाकार(रूप) मत बनाओ, लेकिन भावों को अपने आकार(रूप) बनाओ। ४३२.

*

एक समय की पर्याय में अपनापन करके ढीलाढच रहने से तो कर्मवर्गणाएँ घुस जाती हैं; और त्रिकाली नक्कर स्वभाव में अपनापन होते-ही, तणाव (खिँचाव) होते-ही, कर्मादि भागने लगते हैं। ४३३.

*

प्रश्न : सामान्य पड़खे को ही जुदा पाड़ने का है न?

उत्तर : ऐसा कहने में आता है। सामान्य पड़खा तो जुदा ही पड़ा है; लेकिन परिणाम में एकत्व कर रखा है, इसलिए अलग पाड़ने का कहने में आता है; असल में तो जुदा ही पड़ा है। ४३४.

*

(मुझे) द्रव्य का बहुत पक्ष हो गया है, इसलिए कथन में द्रव्य से (त्रिकाली द्रव्य की प्रधानता से) ही सब बातें आती हैं। (अंगत)। ४३५.

*

जीव को दुःख लगे, तो प्रयास कर–करके सुख को ढूँढ लेता है। लेकिन जो धारणा में ही संतुष्ट हो जाता है, तो दुःख नहीं लगता, इसलिए (वह) इधर ढूँढ़ता ही नहीं। ४३६.

*

इधर की दृष्टि होते-ही मुक्ति चालू हो जाती है। चालू क्या हो जाती है....मुक्ति हो ही गई। ४३७.

*

असल में द्रव्य का पक्का (यथार्थ) पक्ष आ जाना चाहिए। अनादि का पर्याय-पक्ष छूट जाना चाहिए। ४३८.

*

प्रश्न : अंदर में तो कुछ दिखता नहीं और स्थिरता होती नहीं, इसलिए सुनने का भाव (अभिप्राय) रहता है।—क्या करें?

उत्तर : इसमें तो व्यवहार श्रद्धा भी नहीं आई। सुनने का अभिप्राय ही नहीं होना चाहिए। सुनते-ही इधर का प्रयास चालू हो जाना चाहिए। (सुनने का राग होना और अभिप्राय होना—इन दोनों में बहुत फ़र्क़ है।) ४३९.

*

एक–एक पड़खे को जानने जाते हैं, तो अखण्ड वस्तु जानने से रह जाती है। ४४०.

*

उपयोग बाहर में जाता है, तो अपने अनुभव में अंतराय आता है। ४४१.

*

दृष्टि वस्तु का अवलम्बन क्या लेती है!!—वह तो समूची वस्तु को ग्रास कर जाती है, पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त हो जाती है, मालिक बन जाती है। मालिक कहने में भी भेद आ जाता है, दृष्टि तो स्वयम् ही उस वस्तुरूप है। ४४२.

*

वेदांत न हो जाए, इसलिए जरा-सी पर्याय को बताते हैं, तो (अज्ञानी) वहाँ चौंट जाता है। ४४३.

*

पर्याय में अपनापन—वही असल में 'बौद्धमति' है। ४४४.

*

सहज सुख (अन्य) सभी का सहज-ही निषेध करता है। ४४५.

*

एक आदमी ने कहा कि : मुझे तो ज्ञानमार्ग कठिन लगता है, भक्तिमार्ग अच्छा लगता है। अरे भैया! एक ही चीज़ में रस आना—वही भक्ति है। भक्ति के राग का अनुभव तो अमृत को छोड़कर कीचड़ का अनुभव है। अपनी चीज़ में स्थिर होकर ठहर जाना, वही यथार्थ भक्ति है। ४४६.

*

रुचि तो उसको कहते हैं कि, जिस विषय की रुचि होवे उसके बिना एक क्षण भी नहीं चल सके। पतंगा दीपक को देखते-ही चौंट (झपट) जाता है, विचार नहीं करता। ऐसे-ही, विचार....विचार करते रहने से क्या? वस्तु को ही चौंट जावो! पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त होकर (उसे) ग्रस लो। ४४७.

*

(उघाड़ पर जिसकी दृष्टि है, उसको) क्षयोपशम बढ़ता जाता है, तो साथ–साथ अभिमान भी बढ़ता जाता है। ४४८.

*

मुँह में पानी के साथ कचरा आते-ही खदबदाहट होने से उसे मुँह से निकाल दिया जाता है। ऐसे-ही राग का वेदन तो कचरा है, ज्ञानी उसको अपना नहीं मानते। ज्ञानी को किसी-भी क्षण राग में अपनापन आता ही नहीं। ४४९.

*

ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है। भारी चीज़ के ऊपर हलकी चीज़ हो तो बोझ नहीं लगता, लेकिन हलकी चीज़पर तो भारी चीज़ का बोझा लगता ही है। ऐसे ज्ञानी को राग बोझारूप लगता है, खटकता है, खूँचता (सालता) है। ४५०.

*

विचार और धारणा में वस्तु को पकड़ने की सामर्थ्य ही नहीं है। अज्ञानी वस्तु को पकड़ता (ग्रहण करता) नहीं है। विचार में तो वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है। ४५१.

*

प्रश्न : प्रतिकूल संयोग में तो दुःख लगता है लेकिन विकारीभाव में दुःख नहीं लगता?

उत्तर : यह तो बहुत स्थूलता है। विकारीभाव हुआ—वही प्रतिकूल संयोग है, वही दुःख है, उसका दुःख लगना चाहिए। ४५२.

*

आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनंत-अनंत सुख भरा है—ऐसे असंख्य प्रदेश सुख से ही भरपूर हैं; चाहे जितना सुख पी लो! कभी खूटेगा ही नहीं। हमेशा सुख पीते रहो फिर-भी कमी नहीं होती। ४५३.

*

सोचते रहने से तो जागृति नहीं होती, ग्रहण करने से ही जागृति होती है। सोचने में तो वस्तु परोक्ष रह जाती है और ग्रहण करने में वस्तु प्रत्यक्ष होती है। सुनते रहने और सोचते रहने से तो वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। (वस्तु को) ग्रहण करने का ही अभ्यास शुरू होना चाहिए। ४५४.

*

वस्तु तो शुद्धभक्ति का भी निषेध करती है। शुद्धभक्ति व्यवहारभक्ति का निषेध करती है। व्यवहारभक्ति अन्य सब पदार्थों का निषेध करती है। ४५५.

*

रुचि अपने विषय में बाधक पदार्थों को फटा-फट हटा देती है, उनमें रुकती नहीं; (सीधे) अपने विषय को ही ग्रहण कर लेती है। ४५६.

*

जिसको जिसकी प्राप्ति करनी है, उस विषय में उसको सूक्ष्मता आ जाती है अर्थात् प्रयोजन के विषय में बुद्धि अधिक सूक्ष्म हो जाती है। ४५७.

*

प्रश्न : नज़र में तो पर पदार्थ आते हैं, स्व वस्तु नज़र में नहीं आती, तो क्या करना?

उत्तर : जिस क्षेत्र में नज़र का परिणमन हो रहा है, उसी आखे के आखे क्षेत्र में वस्तु पड़ी है। जहाँ से नज़र उठती है—वही वस्तु है। अतः नज़र जहाँ से उठती है—वहीं वस्तु को ढूँढ़ लो! ४५८. *

प्रश्न : उपयोग स्व-सन्मुख होता है तब जो (परसे) भिन्नता भासती है, वैसी (भिन्नता) विकल्प के काल में भासती है क्या ?

उत्तर : विकल्प के काल में भी प्रत्यक्ष भिन्नता का अनुभव है। मगर उपयोग को क्यों मुख्य करते हो ? 'मैं तो ध्रुव तत्त्व हूँ'—इसकी मुख्यता करनी चाहिए। श्रद्धा–ज्ञान विकल्प के काल में ख़ाली पड़े हुए नहीं हैं, लेकिन परिणमनरूप हैं। ४५९.

*

वस्तु को ग्रहण करना, पकड़ना, सन्मुख वलना (ढलना)—यह सब कथन में आता है। असल में तो त्रिकाली वस्तु में अहम्पन आ जाना, उसी को—ग्रहण किया, सन्मुख हुआ, आश्रय लिया, पकड़ा—ऐसा कहते हैं। असल में परिणाम भी सत् है, उसको अन्य का (यानी अपने ही द्रव्य, गुण का भी) अवलम्बन नहीं है। ४६०.

*

हर क्षण मृत्यु के लिए तो तैयार ही रहना; कभी-भी हो और कैसी-भी वेदना हो—सातवीं नरक जैसी भी वेदना हो—फिर-भी क्या ? ४६१.

*

विकल्पात्मक निर्णय छूट कर स्वआश्रित ज्ञान उघड़ता है। जो ज्ञान सुख को देता है, वही ज्ञान है। ४६२.

*

व्यवहार व्यवहार की अपेक्षा से सत्य ही है। ४६३.

*

जिस चीज़ को पकड़नी है, उसको पहले पूरी समझ लेनी चाहिए। ४६४.

*

पर-सन्मुख उपयोग होता है, वह आत्मा का उपयोग ही नहीं है, अनुपयोग है। आत्मा का उपयोग तो पर में जाता ही नहीं और पर में जावे वह (आत्मा का) उपयोग ही नहीं। ४६५.

*

ध्रुव तत्त्व को समझने के लिए पर्याय के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए पर्याय से सभी बातें कहने में आती हैं। ४६६.

*

अनंत आनंद का वेदन आवे—वह भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि वेदन का मेरे में अभाव है। मैं एक समय के वेदन में आ जाऊँ, तो मेरा नाश हो जाए। ४६७.

*

विकल्प उठे, तो ऐसा कहे कि 'हे गुरु! आप मेरे सर्वस्व हैं।' उसी समय अभिप्राय तो यह कहता है कि 'मुझे आपकी ज़रूरत नहीं। मेरा सर्वस्व तो मेरे पास है।' इतना विश्वास और उल्लास तो ज़रूर आ जाना चाहिए कि 'मुझे देव–गुरु की भी ज़रूरत नहीं, सुनने–करने की भी ज़रूरत नहीं, मेरा कार्य मेरे से ही होगा।' ४६८.

*

दूसरे में लाभबुद्धि है, तभी तो उसी में जुड़ने की तीव्र वृत्ति नियम से रहती है। ४६९.

*

दृष्टि तो हर समय अपने को पूर्ण ही देखती है। मुनि भी ऐसा कहते हैं कि 'हम तो पामर हैं,' लेकिन उन्हें तो अपनी खिली हुई परिणति का मुक़ाबला पूर्ण (स्वरूप) के साथ करते हुए, अपनी पामरता लगती है—इस अपेक्षा से कहते हैं। दृष्टि तो साधक-बाधकपना ही नहीं स्वीकारती है। ४७०.

*

पर्याय नई घड़नी नहीं है। इधर दृष्टि होते, (जो योग्यतारूप) पड़ी है, सो प्रकट हो जाती है। ४७१.

*

परलक्ष्यी उपयोग में राग को भिन्न जानने की ताक़त ही नहीं है। परलक्ष्यी उपयोग को तो अचेतन ही गिनने में आता है। ४७२.

*

पहले तो असली बात नक्की कर लो, फिर अपेक्षित बातों का ख़तियान कर लो। एक ओर, परद्रव्य का चिंतन राग का कारण बतावें; दूसरी ओर, केवली के द्रव्य-गुण-पर्याय का चिंतन मोहक्षय का कारण बतावें; —सो परद्रव्य का चिंतन राग का कारण है, यह तो सिद्धांत है और मोहक्षय का कारण तो निमित्त की अपेक्षा से बताया है।—ऐसे सभी जगह निरपेक्ष बात निश्चित कर, फिर अपेक्षित बात को समझ लेना है। ४७३.

*

मृत्यु कब आनेवाली है, यह तो निश्चित (जानकारी में) नहीं है, परंतु आने की है सो तो निश्चित है; इसलिए हर क्षण तैयार रहना है। शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ, रोम-रोम पर

धधकती सूइयाँ लगा दी जाएँ फिर-भी, अपने ध्रुव तत्त्व में इनका प्रवेश ही कहाँ है? ४७४.

*

पहले से ही शरीर से भिन्नता का जिसने अभ्यास किया है, वो ही मरण समय टिक सकता है। क्योंकि जिसकी जो रुचि होती है, वही मरण के समय मुख्य हो जाती है। अतः जिसने पहले से ही भिन्नता का अभ्यास किया है, वो ही टिक सकेगा।

उत्कृष्ट पात्र होवे—जिसकी एक-आध भव में मुक्ति होनेवाली हो—वही (मरण-समय) निर्विकल्पसमाधि रख सकता है। उससे नीचेवाले को विकल्प पूर्वक इसी तत्त्व की दृढ़ता का चिंतन चलता है। उससे नीचेवाले को देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का विकल्प आता है। साधक को तो आकरी (तीव्र) वेदना आदि हो, कुछ-भी न चले, तो भी ध्रुव तत्त्व की अधिकता तो छूटती ही नहीं। ४७५.

*

अपने से अपनी पात्रता मालूम हो जाती है; दूसरा कहे, न कहे—इससे मतलब नहीं है। द्रव्य स्वतंत्र है न! इसको पर की अपेक्षा ही नहीं है। ४७६.

*

प्रश्न : ज्ञानी को आंशिक शुद्धता का ध्येय नहीं है?

उत्तर : आंशिक शुद्धता का क्या? पूर्ण शुद्धता का भी ज्ञानी को ध्येय नहीं है। मैं तो त्रिकाल शुद्ध ही हूँ। ४७७.

*

आचार्यदेव ने 'नियमसार' में कहा है कि : भाई! केवलज्ञानादि (क्षायिक) पर्याय भी परद्रव्य है, परभाव है, हेय है। —तब तुम क्षयोपशमज्ञान में तो रुको ही मत। ४७८.

*

जहाँ तक परिणाम का लक्ष्य रहता है, वहाँ तक 'मैं पुरुषार्थ करूँ, अंतर में वलूँ (ढलूँ)'—ऐसे कर्तृत्व का बोझा रहा ही करता है। इसलिए तो कहता हूँ कि : 'भाई! तू परिणाम मात्र का लक्ष्य छोड़; विकल्प-निर्विकल्प सभी पर्यायों का लक्ष्य छोड़; अनुभव हुआ, नहीं हुआ वह न देख।' ४७९.

*

मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, यह देखो ही मत! 'मैं तो ध्रुव तत्त्व हूँ'—यहाँ आते-ही मिथ्यात्व-पर्याय भी निश्चय से-नियम से चली जाएगी। दृष्टि के निर्णय में पूर्ण शुद्धि भरी हुई है। ४८०.

*

यह ध्रुव तत्त्व किसी को नमता ही नहीं है। खुद की सिद्धपर्याय को भी नहीं नमता। ४८१.

*

मुनि के पास कोई शास्त्र हो और कोई उस शास्त्र को माँगे, तो मुनि फ़ौरन् दे देते हैं; क्योंकि वे खुद ही तो पराश्रयभाव छोड़ना चाहते हैं, इसी से माँगे तो सहज दे देते हैं। ४८२.

*

ज्ञानी को भगवान् की रागवाली भक्ति का प्रेम होता है लेकिन इधर की भक्ति में जैसा प्रेम है, वैसा वहाँ नहीं होता। ४८३.

*

मैं तो विकल्पों से एकदम थक गया था; तभी ऊपर से एकदम नीचे पटके, वैसे पर्याय से छूटकर अंदर में उतर गया। (अंगत)। ४८४.

*

पुस्तकों का बहुत पठन था, सैकडों पुस्तकें पढ़ ली थी, मगर दृष्टि नहीं मिली। पू. गुरुदेवश्री से दृष्टि मिली, पीछे पुस्तकें पढ़ने का रस कम हो गया। (अंगत)। ४८५.

*

जैसे संयोग की इच्छावाले को इच्छानुसार संयोग का मिलना पुण्य का उदय तो है, लेकिन उसमें (उसे भोगने के भाव में) वह पाप की पुष्टि करता है। वैसे-ही देव–शास्त्र–गुरु का मिल जाना यह पुण्य का उदय तो है, लेकिन उनके प्रति के भाव में मग्नता होनी, वह मिथ्यात्व के पाप की ही पुष्टि है। ४८६.

*

रात्रि में निद्रा सहज कम हो जाती है; क्योंकि आराम तो सच्चे स्वरूप में ही है, तो उस तरफ़ की एकाग्रता में निद्रा तो सहज-ही कम हो जाती है।

जिसको सारे दिन इधर–उधर के विकल्पों की थकान बहुत होती है, उसको आराम के लिए निद्रा विशेष आती है। लेकिन जिसको इधर–उधर करने का कर्तृत्व ही छूट गया है, उसे थकान न होने से निद्रा भी कम आती है। जैसे मुनिराजों को अंतर की जागृति के कारण विकल्प की थकान नहीं है, तो निद्रा भी कम है।

मुझे तो पहले दो घण्टे नींद नहीं आती है; फिर थोड़ी

नींद आ जाए, तो जगते-ही ऐसा लगता है कि, क्या नींद आ गई थी! पीछे नींद उड़ जाती है और यही (स्वरूप-घोलन) चलता रहता है। (अंगत)। ४८७.

*

जैसे उधर के पण्डितों को लगता है कि 'हम सब जानते हैं।' वैसे वाँचनकार हो जावे और उघाड़ हो जाए, तो (मानने लगते है कि) 'हम समझते हैं।'—(ऐसे अहम् में) अटक जाते हैं। ऐसे वह उघाड़ रुकने का (अटकने का) साधन हो जाता है। ''पण्डितों का संसार तो शास्त्र कहा है न!'' ४८८.

*

असल में सुनने आदि का रस कम हो जाना चाहिए। वह कम कब होगा? कि : जब अंदर का रस बढ़ता जावे, तभी उधर में रस कम होता जाता है। (इसलिए) शुरू से ही उधर में ज़ोर नहीं आना चाहिए। ४८९.

*

दूसरों के लिए अमुक प्रवृत्ति करना, वह तो बोझा हो गया। यहाँ तो सहज की आदत है। दूसरे (भले-ही) अपने लिए चाहे जैसा अभिप्राय बाँध लें। (अंगत)। ४९०.

*

प्रश्न : यह सभी बात सत्य हैं, लेकिन विकल्प टूटता नहीं है?

उत्तर : विकल्प से क्यों ड़रते हो? इसको भी इसी की सत्ता में रहने दो और तुम तुम्हारी त्रिकाली सत्ता में रहो।

विकल्प को तोड़ने–मोड़ने जाओगे, तो तुम्हारी ध्रुवसत्ता का (श्रद्धा में) नाश होगा; और फिर-भी ये विकल्प तो टूटेंगे नहीं। ४९१.

*

सागरों तक बारह अंग का अभ्यास करते हैं, लेकिन इस परलक्ष्यी ज्ञान से तो नुकसान ही नुकसान है। जो उपयोग बाहर में जाए, तो दुःख होवे ही। स्व-उपयोग में ही सुख है। ४९२.

*

'पर्याय को स्व-सन्मुख करूँ, अंतर में वालूँ, अंतर में ढलूँ'—ऐसी–ऐसी (कर्तापने की) सूक्ष्म भ्रांति जीव को रह जाती है। पर्याय का मुख (दिशा) पलटना है, इस अपेक्षा से यह बात सच है; लेकिन ध्रुव पर बैठते-ही वह सहज होता है। ४९३.

*

जैसे-भी परिणाम हो, लेकिन अपन उसके गुलाम क्यों? ४९४.

*

स्वच्छंद से डरो मत। अभी तक स्वच्छंद ही तो चलता आया है। अब तो 'सहज स्वच्छंद-दशा' प्रकट करो। विवेक अपने आप आ जाएगा। ४९५.

*

प्रश्न : ध्रुव तत्त्व का माहात्म्य विशेष है या ध्रुव को पकड़नेवाली पर्याय का?

उत्तर : अपनी–अपनी अपेक्षा से दोनों का माहात्म्य है। असल में तो ध्रुव तत्त्व का ही माहात्म्य है। पर्याय का माहात्म्य

आने से तो जीव पर्याय में बैठ जाता है।

प्रश्न : ध्रुव तत्त्व तो अभव्य में भी है, लेकिन उसे पकड़ा नहीं, तो क्या लाभ?

उत्तर : अरे भाई! भवि–अभवि दोनों अपन नहीं। अपन तो ध्रुव तत्त्व हैं जिसमें इन दोनों का अभाव है। ४९६.

*

रुचि अपने कार्य में बाधा नहीं आने देती है। वह संयोगों को और विकल्पों को नहीं गिनती। रुचि हो, तो हर समय यही का यही (स्वरूप) चिंतन चलता रहे। ४९७.

*

दूसरों को लगे कि, मैं देख रहा हूँ; लेकिन कोई चोरी कर जाए, तो भी मुझे मालूम न पड़े। मेरे कपड़े कितने हैं? घर में चीज़–वस्तु है या नहीं? मुझे कुछ मालूम नहीं रहता। (अंगत)। ४९७.

*

रुचि हो, तो प्रवृत्ति में भी अपने कार्य में विघ्न नहीं आता। दूसरे से तो कुछ लेना नहीं है, और (स्वयम्) सुख का धाम है। उपयोगरहित चक्षु की माफ़िक प्रवृत्ति में दिखाई तो दे, परंतु उपयोग तो इधर काम करता रहे। ४९८.

*

(ज्ञानी को) भक्ति आदि के शुभभाव आवे तब बाहर में तो उल्लसित दिखाई दे, लेकिन उसी क्षण अभिप्राय निषेध करता है। ४९९.

*

प्रश्न : अशुभ में तो दुःख लगता है, लेकिन शुभ में दुःख नहीं लगता है।

उत्तर : शुभ को ठीक माना है, इसलिए दुःख नहीं लगता। पहले अशुभ में ठीक माना था, तो वहाँ दुःख नहीं लगता था। इधर आवे, तो इधर के सुख के अनुभव में शुभ–अशुभ दोनों ही दुःखरूप दिखते हैं। जैसे मक्खी फिटकरी पर बैठते-ही फट-से उड़ जाती है, किंतु शक्कर पर बैठी हो तो भले-ही पंख टूट जाएँ तो भी, उठना नहीं चाहती—ऐसे यहाँ भी समझ लेना। ५००.

*

जिसको अपना सुख चाहिए, उसे अपना सुख जिनको प्रकटा है, उनके पास जाने का भाव आता है। ५०१.

*

शास्त्र इधर से निकलते हैं। तो इधर से निकली सब बातें शास्त्र से मिल जाती हैं। शास्त्र देखकर इधर का मिलान नहीं करना है, किंतु इधर से निकली बात शास्त्र से मिलान कर लेना। ५०२.

*

निर्विकल्पता पर वज़न नहीं देना। यह मेरे से बड़ी थोड़े-ही है? ५०३.

*

सिद्धजीवों से संसारीजीव अनंत गुने हैं। फिर भी, सिद्धजीव संसारीजीवों को अपनी ओर खींचते हैं। संसारीजीव सिद्धजीव को अपनी ओर नहीं खींच सकते। इससे-ही सिद्धजीवों की विजय सिद्ध हो गई। ५०४.

*

पुरुषार्थ के धाम में पुरुषार्थ जम गया, वही पुरुषार्थ है। ५०५.

*

प्रश्न : आत्मा तो दिखता नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे होवे?

उत्तर : परिणाम तो दिखता है न! तो परिणाम जिसमें से आता है, उस चीज़ का पहले अनुमान किया जाता है, फिर प्रत्यक्ष करना। ५०६.

*

इसकी तो ज़रूरत है न! उसकी तो ज़रूरत है न! अरे भैया! पहले 'मैं अज़रूरियातवाला हूँ'—यह तो निर्णय करो। ५०७.

*

पर्याय तक-ही अपना कार्य सीमित है; परपदार्थ से तो कुछ सम्बंध है ही नहीं—ऐसा निश्चय हो गया, फिर तो अपने में ही शोध चालू होगी। ५०८.

*

महाराजसाहब ने दुष्काल में सुकाल कर दिया है—यह क्या कम महत्त्व की बात है? इस काल में जहाँ (तत्त्व की) ऐसी बात सुनने को नहीं मिलत, वहाँ मूसलाधार वर्षा कर दी है। ५०९.

*

प्रश्न : हमें सम्यग्दर्शन हुआ या नहीं, यह कैसे मालूम होवे?

उत्तर : यह प्रश्न ही बतलाता है कि : तुम्हें सम्यग्दर्शन

नहीं हुआ; तभी ऐसी शंका होती है। अन्य मानें, तो सम्यग्दर्शन है, ऐसा नहीं है। ५१०.

*

'मैं कृतकृत्य चैतन्यधाम हूँ, विकार ने मुझे छुआ ही नहीं, मैं ध्रुवधाम हूँ'—ऐसा अपना अहम्पना आना चाहिए। ५११.

*

मेरा स्वभाव ज्ञान–दर्शनादि से लबालब भरा हुआ है, इसमें नया कुछ करना नहीं है, कुछ बढ़ाना भी नहीं है। ५१२.

*

पूज्य गुरुदेवश्री ने जो उपदेश द्वारा बतलाया, सो ही कार्य मैंने किया है। जगत् में मुझे मान या यश मिले, वह मुझे पसंद नहीं है। (अंगत)। ५१३.

*

परिणामों के चक्र में माथा दिया, तो हमेशा माथा फूटता रहेगा। ५१४.

*

थक गए हो, तो बैठ जाओ; नहीं थके हो, तो चलते रहो। ५१५.

*

बंध तथा मुक्ति में भेद नहीं है। द्रव्य को मुक्त कहना, कलंक है। तत्त्वरसिकजन, आसन्नभव्य, विज्ञानघन के रसीले पुरुष बंध–मोक्ष का भेद नहीं देखते। ५१६.

*

प्रश्न : गुरुदेवश्री की बात भी अच्छी लगती है और बाहर की अनुकूलता भी अच्छी लगती है; जबकि गुरुदेवश्री फ़रमाते हैं कि ''एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं'' ?

उत्तर : एक शुभ है, एक अशुभ है—दोनों जगहों से हटकर, तीसरी जगह (शुद्ध में) आ जाओ। ५१७.

*

व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, जिसका सार यह है कि 'परिणाम मात्र अभूतार्थ है।' ५१८.

*

अज्ञानी उत्पाद-व्यय के साथ चला जाता है। ज्ञानी ने नित्य में अपना अस्तित्व स्थापित किया है, जिससे वह उत्पाद-व्यय के साथ चला नहीं जाता, (उन्हें) जान लेता है। ५१९.

*

शुद्धपर्याय के साथ व्याप्य-व्यापक सम्बंध पूरे द्रव्य के क्षेत्र के हिसाब से है। ५२०.

*

पहले तो धारणा बराबर होनी चाहिए; लेकिन धारणा अंतर में उतरे तभी सम्यग्दर्शन होता है। धारणा में भी लक्ष्य तो इधर का होना चाहिए। ५२१.

*

पर्याय में तीव्र से तीव्र अशुभपरिणाम हो या उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुद्धपरिणाम हो मेरा कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं। मैं तो वैसा का वैसा ही हूँ। ५२२. *

मैं पहले तो सब जान लूँ, सुन लूँ, पीछे पुरुषार्थ करूँगा, तो पीछेवाला सदा पीछे ही पीछे रहेगा। वर्तमान इसी क्षण से ही पुरुषार्थ करने की यह बात है। पहले अपनी आत्मा की प्रभावना करने की बात है। ५२३.

*

अपने द्रव्य में दृष्टि का तादात्म्य होते-ही ज्ञान प्रमाण हो जाता है। ऐसे प्रमाण हुआ ज्ञान सभी बातें जान लेता है। ५२४.

*

करोड़ों शास्त्र पढ़ो तो भी (वह तो) मात्र मन का बोझा है, आँमला (गुबार/भड़ास) है, भार है। ५२५.

*

उल्लास में उल्लास आ जावे, वह योग्य नही। ५२६.

*

परिणाम की मर्यादा देखते रहने से अपरिणामी का ज़ोर छूट जाता है। ५२७.

*

पर्याय में बैठ करके घूँटन करने से तो पर्याय में ठीकपना रहता है, ऐसे कृत्रिम प्रयास का अभिप्राय छोड़ो। ५२८.

*

असल में बात इतनी-सी ही है कि 'इधर में जम जाना चाहिए, त्रिकाली अस्तित्व में प्रसर जाना चाहिए।' ५२९.

*

सुनना, पढ़ना, चर्चा करना—यह सभी ऊपर-ऊपर की बातें हैं; असल में तो अंदर में जम जाना चाहिए, स्वरूप में ऊँड़े उतर जाना चाहिए। ५३०.

*

''षट् आवश्यक आदि क्या, एक ही आवश्यक है''—यह बात 'आत्मधर्म' में पढ़कर ऐसी चोट लगी कि, बस! यही बात ठीक है। (अंगत)। ५३१.

*

प्रश्न : शुरुआतवाले को अनुभव का कैसे प्रयत्न करना?

उत्तर : 'मैं परिणाम मात्र नहीं हूँ', 'त्रिकाली ध्रुवपने में अपनापन स्थापना'—यही एक उपाय है। ५३२.

*

एक ही मास्टर की (Master Key) है : सब बातों का, सब शास्त्रों का एक ही सार है—'त्रिकाली स्वभाव में अपनापन जोड़ देना है'। ५३३.

*

विचार आदि तो पर्याय का स्वभाव होने से चलते ही रहते हैं, परंतु ज़ोर ध्येय स्वभाव की ओर रहता है, तो परिणति (अंतर में) ढ़ल जाती है। ५३४.

*

इसका बल आए बिना, दूसरी जगह अटकेगा ही। ५३५.

*

निश्चय महाराजजी (निजात्मा) को नहीं जाना, तो इन महाराजजी (पूज्य गुरुदेवश्री) को भी विपरीत ही जाना। ५३६.

*

परिणाम के रस को यम का दूत जानो। ५३७.

*

विचार करना—निर्विचार होने के लिए।

मिलना—फिर नहीं मिलने के लिए। ५३८.

*

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु भी 'स्व-भाव' के अनायतन हैं। ५३९.

*

परिणाम अवलम्बन लेता है, मैं नहीं। ५४०.

*

प्रौढ विवेक : मैं निष्क्रिय चिन्मात्र वस्तु हूँ। ५४१.

*

कई लोग संसार की दुकानदारी छोड़, शास्त्र की दुकानदारी में फँस गए। ५४२.

*

यहाँ तो अनुभूति से ही शुरुआत होती है। अनुभव हुए बिना पर्याय से भिन्नता होती ही नहीं। ५४३.

*

गुरुदेवश्री के उपदेश में इतना खुलासा है कि, उस नीवँ से धर्म पँचमकाल तक टिकेगा—ऐसा दिखता है। ५४४.

*

'कार्य' से 'कारण' को देखते हो, इससे तो मुझे ऐसी चोट लगती है कि, यह क्या!—ऐसी दृष्टि में तो त्रिकाली से जुदापना ही रहता है, तो फिर त्रिकाली में एकता कैसे होगी?

वर्तमान पर्याय में तो 'मैं-पना' स्थापित है और त्रिकाली की ओर जाना चाहते हो!! लेकिन पर्याय में 'मैं-पना' छूटे बिना, त्रिकाली में 'मैं-पना' कैसे होगा? ५४५.

*

प्रश्न : तिर्यंच को तो अनुभव का सुख ठीक और राग का दुःख वह अठीक—ऐसा रहता है; उसमें 'त्रिकाली ही मैं हूँ'—ऐसा कैसे भासता होगा?

उत्तर : त्रिकाली में आए बिना सुख होता ही नहीं, तो उसमें त्रिकाली स्वभाव का आश्रय आ गया। पर्याय बदलती है तो भी मैं नहीं बदलता—ऐसा भासता है। ५४६.

*

वर्तमान अंश में ही सब रमत (करतब) है : वह अंतर में देखे, तो शक्तियाँ दिखेंगी; और बहिर्मुख होगा, तो संसार दिखेगा। बस! अंश से बाहर तो जाता ही नहीं है; इतनी-ही मर्यादा में रमत है। ५४७.

*

देव–शास्त्र–गुरु प्रति जो मचक है, वह भी नुकसान ही है।

(किंतु) इसमें जीव लाभ मान बैठता है; कहता तो है कि 'निमित्त से लाभ नहीं होता', लेकिन अभिप्राय तो लाभ का ही बना रखा है; (तभी) तो वहाँ से अपनी ओर आता नहीं। ५४८.

*

अज्ञान में जीव वाँचन–श्रवण–मनन आदि का जो पुरुषार्थ करता है, उसमें तो थाक लगता है; लेकिन जिसमें थकान आवे, वह पुरुषार्थ ही कहाँ? सहज पुरुषार्थ में तो बोझा (थाक) लगता ही नहीं। ५४९.

*

जैसे कोई वीररस का, कोई रौद्ररस का, कोई कामरस का निमित्त है, वैसे यह देव–शास्त्र–गुरु शांतरस के निमित्त हैं; लेकिन अपने में शांतरस जगाए नहीं, तो उनपर उपचार भी जाता नहीं। ५५०.

*

सुनने में भी एकांत उल्लास नहीं होना चाहिए, दीनता लगनी चाहिए, खेद होना चाहिए। ५५१.

*

दृष्टि परिणाम पर रखी है, तो (उसका) मुख द्रव्य की ओर बदलना है। यह मुख भी परिणाम ही बदलता है। मेरे में तो मुख भी कहाँ बदलना है? मैं तो जहाँ हूँ वहाँ ही हूँ; बदलना–फदलना कुछ मेरे में नहीं है। ५५२.

*

प्रश्न : पर्याय का विवेक तो चाहिए न?

उत्तर : जैसे करोड़पति भिखारी को अधिकता नहीं देता; ऐसे पर्याय की जितनी मर्यादा है, उसको ज्ञान जान लेता है (—यही पर्याय का विवेक है)। पर्याय को अधिकता देने जाएगा, तो प्रयोजन ही अन्यथा हो जाएगा। ५५३.

*

बारह अंग का सार 'निष्क्रिय चैतन्य ही मैं हूँ' ऐसा निर्णय करना है।

'मैं तो निष्क्रिय हूँ; कुछ करना ही नहीं है; मैं कुछ कर सकता ही नहीं; मेरे में कुछ करने की शक्ति ही नहीं; मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, (तो) करना ही क्या है?'—ऐसा यथार्थ निर्णय हुआ, तो मुक्ति हो गई। ५५४.

*

विकल्प सहज होता है; निर्विकल्पता भी सहज होती है; और मैं भी सहज हूँ। ५५५.

*

'आत्मधर्म' मिला, उसमें से यह पढ़ते ही कि ''एक-ही आवश्यक है,'' चोट लगी! अरे, यह आठ द्रव्य से पूजा करना, छह आवश्यक—यह तो सभी बोझा लगता है और इसमें (एक आवश्यक में) तो बोझा घट जाता है। (अंगत)। ५५६.

*

शास्त्र में ज्ञान करने का कहा, तो कितने-ही लोग चिंतन में ही रुक गये; और पुरुषार्थ करने का कहा, तो विकल्प में ही रुक गए। ५५७.

*

पहले अपनी प्रभावना करके अपना सुख पीने में मग्न रहो, बाद में जैसा–जैसा योग होता है वैसा–वैसा विकल्प आता रहता है । ५५८.

*

अपने तो निर्विकल्पता भी करनी नहीं है, ध्रुवस्थल में बैठने से निर्विकल्पता भी सहज होती है । पहले अभिप्राय ठीक करना चाहिए, फिर परिणाम भी ठीक होने लगते हैं । ५५९.

*

निष्क्रियभाव कहने से जीव को पुरुषार्थ हीनता लगती है । अरे भाई! वह (भाव) तो पुरुषार्थ की खान है; और जो मुक्ति होती है उसकी भी उसको दरकार नहीं है । ५६०.

*

प्रश्न : स्वभाव को मज़बूत करने की बात है?

उत्तर : स्वभाव तो मज़बूत ही है, उसमें बैठ जाओ । ५६१.

*

आत्मा तो समुद्र है । जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं और अपने में विलीन हो जाती हैं; समुद्र को लहरों की क्या दरकार? वैसे-ही इधर परिणाम उठते हैं और समा जाते हैं; मुझ समुद्र को इनकी क्या दरकार? ५६२.

*

उपयोग भगवान् की ओर जावे तो भी जो उसे यम का दूत देखते हैं तो फिर अन्य कोई (उसे) कहे कि : 'मेरे से राग करो' तो वह कैसे बन सकता है? (अंगत)। ५६३.

*

नित्य वस्तु का ही भरोसा ठीक करने योग्य है। ५६४.

*

अज्ञानी को ऐसा रहता है कि : मैं कषाय को मंद करते-करते अभाव कर दूँगा। लेकिन ऐसे तो कषाय का अभाव होता ही नहीं। स्वभाव के बल बिना कषाय नहीं टलती। मैं कषाय को मंद करता जाऊँगा, सहनशक्ति बढ़ाता जाऊँगा, तो कषाय का अभाव हो जाएगा; और ज्ञान में जो परलक्ष्यी उघाड़ है वो ही बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान हो जाएगा;—ऐसा अज्ञानी मानता है। ५६५.

*

(कितने-ही लोग) समझे बिना, 'द्रव्य में पर्याय नहीं है.....नहीं है'—ऐसा ले लेते हैं। लेकिन 'पर्याय नहीं है'—ऐसा कौन कहता है!! दृष्टि का विषयभूत 'अपरिणामी' पर्याय से अलग है, उसमें पर्याय का अभाव है, उसमें पर्याय नहीं है—ऐसा कहते हैं। ५६६.

*

अपरिणामी एक समय के परिणाम में आ जावे, तो अपरिणामी ख़त्म हो जाए। ५६७.

*

वेदनासमुद्घात में जीव के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं और शरीर के बाहर वेदन आता है, तो कोई जीव इस पर से भी शरीर से (आत्मा के) भिन्नपने के विचार में उतरकर काम कर सकता है। ५६८.

*

'परिणाम में से अहम्पना हटाना और त्रिकाली स्वभाव में अहम्-पना करना'—वह (सहज पर्यायस्वभाव है, जो) शुद्ध जीव का स्व-रूप है। ५६९.

*

स्वाध्याय आदि का विकल्पवाला ज्ञान है, सो तो आकुलता के साथ अभेद है और सहज ज्ञान त्रिकाली स्वभाव के साथ अभेद है, (जिसमें निराकुलता है।) ५७०.

*

'मैं त्रिकाली तत्त्व हूँ'—इसमें अहम्पना करना, वही बारह अंग–चौदह पूर्व का सार है; अंगपूर्व में यही कहना है। ५७१.

*

'सिद्धभगवान् खिसकते ही नहीं'—इसका अर्थ ही ऐसा है कि : वे परिपूर्ण तृप्त–तृप्त हो गए हैं, इसी लिए खिसकते ही नहीं हैं। ५७२.

*

अनुभव होना तो आसान है। लेकिन विशेष उघाड़शक्ति होना और न्याय आदि (निकालना) श्रमवाला है। अपने को गुरुदेवश्री ने ही सब दिया है। (अंगत)। ५७३.

*

सम्यग्दृष्टि को एक विकल्प भी फाँसी-सा लगता है; विकसित स्वभाव को फाँसी लगती है। ५७४.

*

केवलज्ञान भी करना नहीं है, हो जाता है; तब फिर 'क्षयोपशम ऐसे करूँ....ऐसे करूँ'—यह तो कर्तृत्व(बुद्धि) ही है। ५७५.

*

ऐसी बात सुनने को मिल जाने से संतोष हो जाता है कि : दूसरे लोगों को ऐसी बात नहीं मिली, अपने को तो मिली है न! —ऐसे अधिकता मानकर जीव संतुष्ट हो जाता है। ५७६.

*

तीनों लोक के सर्व पदार्थ ज्ञान में आ जावें तो भी ज्ञान सभी को पी जाता है और कहता है कि : अब और-कुछ बाक़ी हो, तो आ जाओ! ५७७.

*

सारे जगत् में बस! मैं ही एक वस्तु हूँ और कोई वस्तु है ही नहीं। अरे! दूसरी कोई वस्तु है या नहीं है, ऐसा विकल्प भी क्यों? ५७८.

*

'ज्ञान का ज्ञेय....ज्ञान का ज्ञेय' कहते हैं और लक्ष्य राग की ओर है, तो वह सच्चा ज्ञान का ज्ञेय है ही नहीं। 'ज्ञान का ज्ञेय' तो अंदर में सहजरूप हो जाता है।

लक्ष्य बाहर पड़ा हो और 'ज्ञान का ज्ञेय' ऐसा बोले, तो मुझे तो खटकता है। वैसे-ही 'योग्यता', 'क्रमबद्ध' आदि सभी में लक्ष्य बाहर पड़ा हो और वैसा कहे, तो मुझे खटकता है। ५७९.

*

प्रश्न : अपरिणामी का अर्थ क्या? आत्मा पर्याय बिना का सर्वथा कूटस्थ है?

उत्तर : अपरिणामी अर्थात् द्रव्य में पर्याय सर्वथा नहीं है, ऐसा नहीं है। लेकिन पलटनशील-परिणमनस्वभावी पर्याय को गौण करके, 'मैं वर्तमान में परिपूर्ण हूँ, अभेद हूँ'—ऐसे ध्रुव द्रव्य और ध्रुव पर्याय (कारणशुद्धपर्याय) को लक्ष्यगत् करने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

द्रव्य पलटता नहीं है, पर्याय पलटती रहती है। यदि द्रव्य परिणमन को प्राप्त हो जाए, तो पलटते हुए द्रव्य के आश्रय से स्थिरता हो नहीं सकती और स्थिरता के बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए जो पलटती ही रहती है, उसका लक्ष्य छोड़; और ध्रुव-अपरिणामी चैतन्य तत्त्व जो एक-ही सारभूत है, उसका लक्ष्य कर!

पर्याय परिणमती है, उसका परिणमन होने दे! उसके सन्मुख मत देख! मगर उसी समय तू परिपूर्ण-अपरिणामी-ध्रुव तत्त्व है, उसको देख!

अहो! 'मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण-ध्रुव-अपरिणामी तत्त्व हूँ।'—यह बात जगत् के जीवों को नहीं जँचती है। और प्रमाण के लोभ में—आत्मा को यदि अपरिणामी मानेंगे, तो प्रमाणज्ञान नहीं होगा और एकांत हो जाएगा, ऐसी आड़ लगाकर—पर्याय का लक्ष्य नहीं छोड़ना चाहते हैं। इस-ही कारण से वे अपरिणामी चैतन्यतत्त्व को प्राप्त नहीं होते हैं। ५८०.

*

प्रश्न : शास्त्र में आत्मा को 'भेदाभेदस्वरूप' कहा है; और

आप तो आत्मा को 'अभेद' कहते हो; इसमें आपका क्या प्रयोजन है?

उत्तर : प्रमाणज्ञान की अपेक्षा से आत्मा को भेदाभेदस्वरूप कहने में आता है। लेकिन वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा तो अभेद ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषय भेद नहीं है। इसलिए भेदाभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती; मात्र अभेद के लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है;—यही आशय है। ५८१.

*

पुरुषार्थ की व्याख्या : सहज उद्यम।

मैं तो अनादि-अनंत अपने स्वरूप में स्थित हूँ, निर्विकल्प हूँ, जो सुखरूप है। कृत्रिम उद्यम तो विकल्पवाला खोटा पुरुषार्थ है, दुःखरूप है। ५८२.

*

परिणाममात्र व्यवहार है। परिणाम की दृष्टि से दीनता आती है। पर्याय में रुकने में एकांत दुःख होता है। परिणाम उत्पाद-व्ययस्वरूप है।

मैं तो अपरिणामी हूँ, जिसमें उत्पाद-व्यय नहीं है; निगोद से लेकर सिद्ध तक वैसा का वैसा ही हूँ।

परिणाम में प्रसरने से परिणाम जितना (क्षणिक) हो जाएगा। ५८३.

*

प्रत्येक परिणाम सत् है; उसमें फेर-फार करने का विकल्प झूठा है। ध्रुव सदा ध्रुवरूप ही है, वो उत्पाद-व्यय को क्या करे? ५८४.

*

मैं तो विकल्पमात्र से और परिणाममात्र से रहित हूँ। ५८५.

*

मेरा अस्तित्व परिणाम तथा विकल्प में नहीं है। मैं तो वर्तमान में ही त्रिकाली अपरिणामी हूँ। मेरे में (विकल्पादिक के) कर्तापने का स्वभाव हो, तो मुक्ति कभी नहीं हो सकती। ५८६.

*

मैं नित्य सदृश्य हूँ, जिसमें कुछ करने का या फेरफार करने का नहीं है। नित्य वस्तु को ध्येय बनाने से मेरे में सुख-दुःख नहीं हैं, हर्ष-शोक तो पर्यायदृष्टि में हैं। ५८७.

*

पर्याय विनश्वर है, इसमें एकत्व करने से स्वयम् विनश्वर होता है। श्री योगेन्द्रदेव कहते हैं कि : 'उत्पाद-व्यय, बंध-मोक्ष पर्याय में हैं, मेरे में नहीं।' ५८८.

*

दर्पण में समय-समय पर आकार होता रहता है, तो भी दर्पण का दल ज्यों का त्यों रहता है। ऐसे-ही, स्वभाव दर्पण के दल जैसा है; वह स्वयम् के साथ तादात्म्य है, आकार के साथ नहीं। त्रिकाली में वर्तमान परिणमन का अभाव है। ५८९.

*

मुक्ति चाहता है, लेकिन उसके अभिप्राय में कर्तापना पड़ा हो, तो (उसकी) मुक्ति कैसे हो? 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसा निश्चय होनेपर कर्तापना नहीं रहता। ५९०.

*

स्वभाव सावधानस्वरूप है। पर्याय में सावधानी होनेपर स्वभाव पकड़ने में नहीं आता। ५९१.

*

वर्तमान में ही पूर्ण हूँ। (पर्याय-अपेक्षा भी) प्रयोजन सुख का है, ज्ञान का नहीं। ५९२.

*

सारा जगत् ज्ञान का ज्ञेय है। अनुकूलता–प्रतिकूलता कुछ नहीं है।—इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिए। दृष्टि में मचक नहीं आनी चाहिए। अभिप्राय में पर से लाभ–नुकसान की मान्यता क्यों? अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होनी चाहिए। ५९३.

*

मैं त्रिकाल अपरिणामी हूँ, परिणाम मात्र गौण है—ऐसा निश्चय वर्तमान में ही होना चाहिए। ध्रुव स्वभाव सदा प्रसिद्ध है; उत्पाद–व्यय के काल में भी जुदा प्रकट है। दृष्टि प्रतिसमय पर्याय को गौण करती है। ५९४.

*

प्रश्न : जीव का कर्तव्य क्या?

उत्तर : कर्तव्य पर्याय में है। परमार्थ से कोई कर्तव्य नहीं। प्रमाणज्ञान का प्रयोजन तो निश्चय को प्रकाशित करना है। ५९५.

*

मैं तो प्रतिमा समान अपरिणामी हूँ। मेरे में पालथी मारकर बैठ जाता हूँ। दर्पण के दल की तरह निष्क्रिय हूँ। परिणाम जो

होने लायक है, सो होता है; मैं तो पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य हूँ—वही निष्क्रियता है। ५९६.

*

पर्याय को उसके स्वकाल में रहेने दो, वह उस काल का सत् है; उसमें उपयोग मत रोकना। ५९७.

*

द्रव्य पर्याय का आलिंगन नहीं करता। पर्याय द्रव्य का आलिंगन नहीं करती; कथंचित् व्यवहार से आलिंगन करती है। ५९८.

*

हर समय द्रव्यस्वभाव की अधिकता रहनी चाहिए। जैसे तिनके की आड़ में डूँगर नहीं दिखता है, वैसे-ही दृष्टि परिणाम पर रुकने से परिणामी ढँक जाता है। ५९९.

*

(संक्षेप में अध्यात्म-दृष्टि से) चार अनुयोग :

करणानुयोग : विकार और विकार के फल।

द्रव्यानुयोग : स्वभाव और स्वभाव का फल।

चरणानुयोग : चारित्र की स्थिरता।

कथानुयोग : उक्त सभी की कथा। ६००.

*

'मैं निष्क्रिय त्रिकाली हूँ'—इस चश्मे को लगाकर देखने से सभी गुण अपना कार्य करते हैं, इसमें सहज ज्ञान और पुरुषार्थ आ जाता है।

'साधक–बाधक कोई नहीं है'—यह चश्मा लगाने से अर्थात् ध्रुव की मुख्यता में सब यथार्थ दिखता है। साधक–बाधकभाव पर्याय में हैं। मैं तो ध्रुव हूँ। ६०१.

*

निश्चयाभास होने का भय और प्रमाणज्ञान का लोभ रहने से सत्य मार्ग दिखाई नहीं देता। ६०२.

*

क्षणिकभाव व्यक्त है, उसको गौण करना; और त्रिकालीभाव अव्यक्त है, उसको मुख्य करना। ६०३.

*

जैसे एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ नहीं करता है, वैसे एक सत् अन्य सत् का कुछ नहीं करता। त्रिकाली सत् क्षणिक सत् को नहीं करता। क्षणिक सत् त्रिकाली सत् का कुछ नहीं करता। ६०५.

*

त्रिकाली में विकार–अविकार कुछ नहीं है। ६०६.

*

प्रमाण से द्रव्य पर्याय का कर्ता है। निश्चय से द्रव्य पर्याय का कर्ता नहीं है। ६०७.

*

'वर्तमान में ही अक्रिय–अपरिणामी हूँ' अर्थात् कोई क्रिया करने का अभिप्राय नहीं है। 'कुछ करूँ.....करूँ' में, स्वयम्

परिणमन करते परिणाम को करने का ही अभिप्राय रहता है। (जो मिथ्या है।) ६०८.

*

निरावलम्बी तत्त्व में बैठ जाना है। 'वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ' तो फिर करना क्या? ज्ञान करना! —वो तो सहज-ही है; उसका भी बोझा उठाने की ज़रूरत नहीं है। ६०९.

*

विकल्प स्व का या पर का, उनकी ज़ात एक ही है— क्षणिक हैं। मैं त्रिकाली निर्विकल्प हूँ, मेरे में विकल्प की नास्ति है। ६१०.

*

ज्ञान बढ़ाने की व कषाय घटाने की ज़रूरत नहीं है; यों तो केवलज्ञान प्रकट करने की भी ज़रूरत नहीं है। परिणाम पर न खैंचावो, सहज स्वभाव रह जाएगा। ६११.

*

'मैं स्थिर हूँ'—ऐसा निर्णय करने पर स्थिरता आती है, टिकती है, बढ़ती है, और सुख होता है। 'मैं अस्थिर हूँ'—ऐसे भाव में सुख नहीं मिलता, दुःख होता है। ६१२.

*

(ज्ञानी के) अभिप्राय में परिणाम, गति आदि गौण हो जाती हैं। उनकी मरण के समय क्षेत्रांतर पर नहीं लेकिन परिपूर्ण (स्व) पर दृष्टि रहती है। ६१३.

*

'प्रति समय का परिणमन' उस काल में मात्र जाना हुआ ही प्रयोजनवान है—बस! इतनी-ही मर्यादा है। ६१४.

*

वस्तुस्वरूप तो सहज का धंधा है, वाद–विवाद करे सो अंधा है। ६१५.

*

जो क्षणिक सत् को नहीं स्वीकारता, वह त्रिकाली सत् को कैसे स्वीकारेगा? ६१६.

*

एक ओर त्रिकाली का पलड़ा और दूसरी और क्षणिक का पलड़ा। जैसे एक ओर माल, दूसरी ओर बारदान; महत्ता माल की है, बारदान की नहीं। ६१७.

*

गति में व्यवहार से क्षेत्रांतर होता है; निश्चय से अपना क्षेत्र कभी नहीं छूटता। ६१८.

*

ज्ञान की पर्याय ज्ञेय के साथ सम्बंध रखती है। ज्ञायक का सम्बंध किसी के साथ नहीं। ६१९.

*

प्रश्न : इस काल में सत्समागम लाभकारी है?

उत्तर : निश्चयस्वरूप अपनी आत्मा का समागम करना, वही सत्समागम है और यही लाभकारी है। व्यवहार से देव–शास्त्र–गुरु तथा धर्मात्मा का संग सत्समागम है। ६२०.

*

मैं ध्येयस्वरूप हूँ। परिणाम मेरा ध्यान करता है। ६२१.

*

जिसमें थकावट आए, उसे हेय जानें। शुभाशुभ में थकावट आती है; शुद्धभाव में थकावट नहीं आती।

पर्याय को पर्याय के स्थान में रहने दो। ६२२.

*

पोपट भूँगली को पकड़ने पर औंधा हो जाता है, गिर जाने के भय से (वह) भूँगली को छोड़ता नहीं है; यदि वह भूँगली को छोड़ दे, तो उड़ जाए, क्योंकि उड़ना तो उसका सहज स्वभाव है (परंतु) वह अपनी स्वाभाविकशक्ति को भूला हुआ है। वैसे-ही अज्ञानी अपनी शक्ति को भूल कर परिणाम को पकड़े हुए है। ६२३.

*

सम्यग्दृष्टि की राग के प्रति पीठ है, मुख नहीं।

मैं तो सदा अंतर्मुख हूँ, मेरा विकल्प के साथ-भी सम्बंध नहीं है; तो दूसरों की तो क्या बात? आत्मा ही निज वैभव है। ६२४.

*

'मैं परिणाम से शून्य हूँ'—ऐसा ज़ोर आना चाहिए। ६२५.

*

द्रव्यलिंगी को मंद कषाय की मुख्यता है और द्रव्य की गौणता है। ६२६.

*

मेरी भूमि वर्तमान में इतनी निष्कम्प और नक्कर (ठोस) है कि, जिससे मैं वर्तमान में ही निर्भय हूँ, निरावलम्बी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखस्वरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाल एकरूप हूँ, अचल हूँ। ६२७.

*

(स्वयम् की प्रसिद्धि के बारे में पूछा गया तब कहा कि :) कोई (मुझे) जाने न जाने, इसमें आत्मा को कोई फ़ायदा नहीं है। अनंत सिद्ध हो गए हैं, आजकल कोई उनके नाम तक-भी नहीं जानता है! असंख्य सम्यग्दृष्टि (तिर्यंच) अभी ढ़ाई द्वीप के बाहर मौजूद हैं, उन्हें कौन जानता है?

आप किसी के लिए बोझा न उठावें। मैं अपनी बात अपने मुख से नहीं कह पाऊँगा, और कोई बात बना करके जाना, ऐसा मुझ से नहीं हो सकता। (अंगत)। ६२८.

*

एक पलड़े में आत्मा, और दूसरे पलड़े में तीन काल–तीन लोक; फिर-भी आत्मावाला पलड़ा (भार से) बैठ जाता है, और दूसरा पलड़ा उलट जाता है। ६२९.

*

द्रव्यलिंगी मुनि ने वीर्य बहुत उलटा लगाया है। वह जितनी ज़ोर से उलटा पड़ा है, उससे अधिक वीर्य सम्यक् होने में लगाना पड़ेगा, तभी सम्यक् होगा। ६३०.

*

पूज्य गुरुदेवश्री के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी की पूरी बात आ जाती है। ६३१. *

(धार्मिक पर्व के दिनों में श्री मंदिरजी में पूज्य बहिनश्री–बहिन की भक्ति देखकर बोले :) ऐसी भक्ति मेरे में नहीं है, इस बात में तो मैं अपनी क्षति देखता हूँ। (अंगत)। ६३२.

*

(श्रीमद् राजचंद्रजी का पत्रांक–४०८ पढ़कर प्रमोद से निकले उद्‌गार :) अहो! क्या चीज़ रख दी है इसमें!! ६३३.

*

(लगाव-प्रधान होकर चेष्टा करना) ऐसी मेरी प्रकृति नहीं है, फिर-भी कोई योग्यता पड़ी होगी जो अपने स्वकाल में बाहर आ गई। (ऐसी योग्यतावश भाईश्री राजकोट के हवाई अड्डेपर श्री लालचंदभाई से गले लगाकर मिले थे।) (अंगत)। ६३४.

*

प्रश्न : सम्यग्दर्शन के पहले आपकी कैसी दशा थी?

उत्तर : निर्विकल्पता के पहले विकल्प का इतना दुःख मालूम हुआ था—ऐसी दशा हुई थी—कि, या तो देह छूट जाएगी या विकल्प फट जाएगा। तीसरी बात होनेवाली नहीं थी। (अंगत)। ६३५.

*

निश्चयग्रंथ आत्मा है, निश्चयगुरु आत्मा है और निश्चयदेव भी आत्मा है। मूल बात इधर से है; बाद में बाहर के निमित्तों पर उपचार किया जाता है। ६३६.

*

मैं तो अभी-ही सिद्ध हूँ। चौदहवाँ गुणस्थान होगा और

बाद में सिद्धालय में जाना होगा, क्षेत्रांतर वग़ैरह होगा; लेकिन यह सब कार्य पर्याय में होगा। पर्याय का कार्य पर्याय में होता है, मेरे में नहीं। मैं तो अभी-ही सिद्धालय में बैठा हूँ। कभी कहीं आया भी नहीं, गया भी नहीं। ६३७.

*

प्रश्न : पुरुषार्थ कैसे करना?

उत्तर : 'मैं वर्तमान में ही अनंतवीर्य का पिंड हूँ'—यही पुरुषार्थ है।

प्रश्न : दृष्टि तो फेरना है न?

उत्तर : 'मैं ख़ुद ही द्रष्टा हूँ'—इस भाव में दृष्टि नहीं फेरना है। 'वर्तमान में ही कृतकृत्य हूँ'—इसमें कुछ करना नहीं है। ६३८.

*

प्रश्न : परिणति अंतर में अभेद रहती है, इसलिए आप साधक हैं?

उत्तर : पर्याय की अपेक्षा से मुझे साधक कहो, तो कहो। वैसे मैं तो न साधक हूँ, न बाधक हूँ। ६३९.

*

यह (भव) तो मुसाफ़िरी है। अब तो आख़िरी मुसाफ़िरी है। (अंगत)। ६४०.

*

गुरुदेवश्री के लिए मेरे हृदय में क्या है—सो चीर कर कैसे बतलाऊँ?.....बस! यह तो मेरा ज्ञान ही जानता है। (अंगत)। ६४१.

*

(एक मुमुक्षु :) हमको पढ़ना नहीं है, मुनि होना है।

(भाईश्री :) हमको तो न पढ़ना है, न मुनि होना है। हमारे में कुछ होने का सवाल ही नहीं। मैं तो जो हूँ, सो हूँ। ६४२.

*

मुझे इतनी थकान लगती है कि, कितने-ही दिनों का एकांत मिले फिर-भी थकान न उतरे—इतनी एकांतप्रियता है। (अंगत)। ६४२.

*

(प्रस्ताव :) आप हमारे साथ गुरुदेवश्री के पास चलेंगे?

उत्तर : आप जाईए। मैंने तो गुरुदेव को यहाँ बैठा लिया है। (अंगत)। ६४४.

*

प्रश्न : अभी आप कौनसे शास्त्र का वाँचन करते हो?

उत्तर : शास्त्र-वाँचन की ख़ास आदत नहीं रही और मुझे क्षयोपशम भी बढ़ाना नहीं है। (अंगत)। ६४५.

*

ज़रा-सा इधर का ख़याल में आ गया, तो सुगम में सुगम यह कार्य लगता है। इसके आगे पानी पीने का कार्य भी कठिन लगता है। इसी कार्य में सब सुगमता और सरलता है, दूसरे में नहीं। ६४६.

*

पहले धारणा में 'ऐसा हूँ', ऐसा आ जाता है; अन्य की

जैसी कल्पना होती है वैसे यह भी कल्पना ही है। परंतु जो इसमें सुख का ध्येय हो, तो इस तरफ़ के विकल्प चलते–चलते इसमें प्रसर जाता है। ६४७.

*

अनुभव के लिए भी आकुल–व्याकुल क्यों? अपने निष्क्रिय स्थान पर आते-ही (वह) सहज-ही हो जाता है। ६४८.

*

पर्याय को नहीं देखते रहने से बिगाड़ हो जाएगा—ऐसा भय रहता है। अरे! बिगाड़ हो तो हो, एक बार देखो तो सही कि, क्या बिगड़ता है? बिगड़ेगा तो सुधार लेंगे। ६४९.

*

ज्ञानी के मुख से सुनते ही रहना—ज्ञानी के मुख से कब कौन सी बात निकल जाए? श्रीमद्जी कहते हैं कि, ज्ञानी की चेष्टा आदि देखते रहना। तो ऐसे व्यवहार-कथनों को पकड़ने से उल्टा अभिप्राय बन जाता है।

अरे! एक ज्ञानी को तो क्या, अनंत ज्ञानियों को और अनंत सिद्धों को देखते रहने से तो स्वयम् का ही नाश होता है। ६५०.

*

चक्रवर्ती छह खण्ड़ को जीतते हैं परंतु यहाँ तो मैं ऐसी चीज़ हूँ कि, तीन लोक से भी जीती न जाए ऐसी महान् चीज़ हूँ फिर छह खण्ड का क्या हिसाब? ६५१.

*

खुद से गर्वित बनो। निर्विकल्प गर्व होना चाहिए। ६५२.

*

ज्ञान हो या न हो परंतु जो सुख है वह जीव को सब जगह से हटा देता है। ६५३.

*

जीव को (इन्द्रिय) विषय का राग छूट सकता है, मनन का राग नहीं छूट पाता; (असल में तो) मनन का भी राग छूट जाना चाहिए। ६५४.

*

उघाड़ ज्ञान कषाय के साथ अभेद होता है और अंतर्ज्ञान आत्मा के आनंद के साथ अभेद होता है। ६५५.

*

मिथ्यादृष्टि क्षयोपशम बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान हो जाएगा—ऐसा मानता है। अरे...रे! वह तो निगोद की तरफ़ जा रहा है। ६५६.

*

जिस-जिस समय जैसे-जैसा योग हो और जैसे-जैसे विकल्प हों, उनमें खींचतान और खड़खड़ाहट नहीं करना, जो हो सो हो। ६५७.

*

चैतन्यमूर्ति भावाकार हो रही है इसके बदले भावों को चैतन्यमूर्ति-आकार बनाओ। ६५८.

*

हम लोग चतुर्थ काल में वर्त रहे हैं।

''गुरुदेव तीर्थंकर हैं।''

सोनगढ़ से जाते वक़्त आख़िर में दुःख व्यक्त करते हुए बोले कि : ''सिद्धपुरी से जाना पड़ रहा है।'' ६५९.

*

शरीर छुट्टा-छुट्टा ही जनाता (भासता) है। यहाँ-वहाँ जाना भार उठाने, बोझा उठाने जैसा लगता है। (अंगत)। ६६०.

*

पुण्यवंत ज्ञानी का वीर्य प्रबल होता है, वे किसी को कोई काम के लिए कहें फिर वह काम न हो, तो वे (उस) काम के बिना ही चला लेते हैं परंतु पुनः नहीं कहते हैं। ६६१.

*

जो मोक्ष जल्दी जाना चाहता है, तो इस मार्ग में बहुत ही अटकाव-बाधाएँ आती हैं कारण कि, जिनके साथ सम्बंध है, वे सब ''मत जाओ, मत जाओ'', ऐसे रोकने आते हैं। ६६२.

*

स्टुडियोवाले ने फोटो खींचानेवाले से कहा कि : आप सिर्फ़ हँसता हुआ चेहरा रखो बाक़ी सब मैं सँभाल लूँगा। ऐसे-ही यहाँ एक अपने द्रव्य को सँभालो, अन्य सब स्वयम् ठीक हो जाएगा।

उक्त बात एक भाई ने कही थी तो उसे सुनते-ही पू. सोगानीजी ने बहुत प्रसन्नता व्यक्त की और कहा कि : 'ऐसा-ही है' यह दृष्टांत बहुत सटीक है। ६६३.

*

ज्ञान का कार्य ज्ञानस्वभाव को करने दो, पुरुषार्थ का कार्य

पुरुषार्थस्वभाव को करने दो, यह तो पर्याय का स्वभाव होने से अपने आप होगा।

हम तो निष्क्रिय हैं, कर्ता–कर्म–क्रिया में आते ही नहीं। पर्याय में कर्ता–कर्म–क्रिया होती है। ६६४.

*

जैसे पर्वत के ऊपर रुई धुनने पर वो फट–फट उड़ जाती है, हाथ में आती नहीं। वैसे-ही परिणाम के ताने–बाने फट–फट छूट जाते हैं परंतु मैं अपरिणामी तो ऐसा का ऐसा ही रहता हूँ। ६६५.

*

ज्ञानी कहते हैं कि : नहीं फिरने वाला 'मैं', अनंत तीर्थंकर भी आएँ तो भी फिरता नहीं। मैं मानता हूँ वही सत्य है। और जिसे अपना सुख प्रगट हुआ, उसे कोई कहे कि 'यह सुख नहीं है', तो वे कहते हैं कि : अरे भाई तुझे कौन पूछता है? ६६६.

*

कुगुरु–सुगुरु 'पर' की अपेक्षा दोनों समान हैं; (तो भी अज्ञानी उनमें) भेद करता है—पर ही पर में (पर ज्ञेयों में) भेद करता है। ज्ञानी तो दोनों जैसे हैं उनका जाननहार रहता है। ६६७.

*

अनंत सुख की अनंत पर्यायवाला द्रव्य एक समय की पर्याय में (मान्यता में) आकर संकुचित हो जाता है जिससे अनंत दुःख है। आत्मा का स्वभाव तो प्रफुल्लित होना है, खिलने का है, केवलज्ञान होने का है। ६६८.

*

मचक भी तब कही जाती है कि, विकल्प में दुःख ही दुःख लगे। जो अपनी तरफ़ आया नहीं, तो मचक कहाँ भासी है? वह तो ज्ञानियों के कहने पर से कहता है, परंतु भाव में तो मचक भासी नहीं है। अटकन तो तब कही जाए कि, अनअटकन स्वभाव (द्रव्य स्वभाव) की दृष्टि हुई हो, तभी अटकन कहने का अधिकारी है। ६६९

*

मेरे में और परिणाम में रात–दिन का अंतर है। ६७०.

*

शास्त्र आदि का विकल्पात्मक ज्ञान है वह तो पर्याय के साथ अभेद है और सहज ज्ञान त्रिकाली के साथ अभेद है। ६७१.

*

आँख फूट जाए, अंधा हो जाए, तो देखने के उपयोग का 'लम्बाना' मिटा। कान फूट जाए, जीभ फट जाए, सर्व इन्द्रियों का नाश हो जाए तो क्या? वहाँ उपयोग 'लम्बाना' मिटा, (इस अपेक्षा से) वह तो जितेन्द्रिय हो गया। ६७२.

*

शास्त्र आदि से ज्ञान होता नहीं, ऐसी दृष्टि होते-ही, उस तरफ़ का झुकाव अटक जाता है। चलते–चलते एक व्यक्ति तो ऐसे-ही अटकता है और दूसरा व्यक्ति काँटा लगने से अटकता है, दोनों के अटकाव में बहुत फेर है। वैसे-ही एक तो शास्त्र आदि में लाभ मानकर अटके और दूसरा क्षणिक मचक के कारण रुके—इन दोनों में बड़ा अंतर है। ६७३.

*

सम्यग्दृष्टि को विकल्प होते हुए भी ऐसा लगता है कि 'मैं तो केवली जैसा हूँ' यानी कि लोकालोक का जाननहार हूँ; मानो स्वयम् को पूर्णता हो गई—ऐसा लगता है। ६७४.

*

राग को ज़हर कहने में आवे, तो सुनकर वह चमकता नहीं क्योंकि उसे (ऐसा सुनने की) आदत हो गई है परंतु पुण्य को काग-विष्ठा कहने में आए तो, नया शब्द होने से, चमकता है। ६७५.

*

(व्यसनी को) इच्छानुसार (व्यसन) मिल जाने का कारण पुण्य का उदय तो है परंतु उसमें (उसे भोगने के भाव में) वह पाप की ही पुष्टि करता है; वैसे-ही गुरुदेव, शास्त्र मिल जाना पुण्य का उदय तो है परंतु इनके प्रति मग्नता के भाव में मिथ्यात्व के पाप की ही पुष्टि करता है। ६७६.

*

परिणाम अपरिणामी से जुदा ही है, इसलिए गौण करने का कहा है। क्रिया परिणाम में होती है; मेरे में नहीं, इसलिए दो भाव, दो तत्त्व जुदे-जुदे ही सिद्ध होते हैं। ६७७

*

(अपने) स्थल पर जम जाऊँ, अधिक बल से जम जाने पर एक समय में एकत्व हो ही जाता है।

कर्ता, कर्म, क्रिया मेरे में नहीं; वे तो परिणाम हैं। साक्षी-भाव भी मैं नहीं, वो तो एक समय की ज्ञान की शुद्ध पर्याय है।

'मैं तो निष्क्रिय त्रिकाली हूँ' (—ऐसे) अभिप्राय में यथार्थ भान प्रगट करना चाहिए।

'त्रिकाली ही हूँ'—ऐसी यथार्थ दृष्टि हो गई, तो परिणाम मात्र से उपेक्षा हो गई।

मैं तो ऐसी-ही भूमि हूँ, त्रिकाली धाम, अनंत गुणों का स्वरूप, पिण्ड हूँ, परिपूर्ण तत्त्व हूँ'—उसमें ही बैठ जाओ, सहज जनिज जाएगा। मुझे कुछ जानना नहीं। जानना, जानते रहना ऐसा भी नहीं। अभिप्राय में तो '(मैं) पूर्ण हूँ'—ऐसा मुक्त स्वरूप वर्तमान में ही हूँ। ६७८.

*

'सत्' स्व-भाव से ही निष्क्रिय है...शुद्ध जीवास्तिकाय निष्क्रिय है। मैं निष्क्रिय हूँ; जानने की क्रिया का भी कर्ता नहीं हूँ। परिणाम-क्रिया दूसरा भाव (—पर्याय-भाव) है; (उसमें) अधिक–भिन्नपने द्रव्य पर आया, तो पर्याय सहज (शुद्ध) होती ही रहती है। ६७९.

*

जिस भाव पर जाना है उसको बारम्बार लक्ष्य में लेना; क्योंकि यह साधन-अपेक्षा से आख़िरी साधन है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने वाले को बारम्बार द्रव्यस्वभाव का ही लक्ष्य आया करता है, दूसरे सब विकल्प छूट जाते हैं। ६८०.

*

(मैं) निष्क्रिय हूँ, शुद्ध हूँ। वह जानने की क्रिया करे, तो निष्क्रिय नहीं रहा। मैं तो निष्क्रिय ही हूँ, वर्तमान से ही कुछ करना नहीं है। अपना तो नित्य टिकने का स्वभाव है और वही मैं हूँ।

*

पूरा समुद्र क्या एक तरंग में आ जाता है? मैं तो अपरिणामी हूँ, यहीं बैठ जाओ। ६८१.

*

प्रश्न : ज्ञाता–द्रष्टा तो रहूँ?

उत्तर : नहीं; वो करना ही नहीं। परिणाम पर बैठे, तो 'जानने का कर्ता हूँ' ऐसा दिखता है। लेकिन इस निष्क्रिय वस्तु में तादात्म्यपना आया, तो सहज-ही परिणाम निर्मल होते हैं।

दृष्टि में तो मैं यही हूँ, यही रहे। ६८२.

*

जब निष्क्रिय चैतन्यमूर्ति दृष्टि में नहीं तब भी पर्याय तो पर्याय से ही होती है फिर-भी वहाँ उथल–पुथल करने की दृष्टि रहा करती है। द्रव्य पर बैठो, तो सब सहज-ही है, दूसरा कुछ करना ही नहीं है। ६८३.

*

परिणाम का मुख एक बार तो बदल, स्व-सन्मुख कर। जब दृष्टि पलट जाएगी, तो दौलत मौजूद है। ६८४.

*

त्रिकाली धाम में (नित्य व क्षणिक) दो सत् का अनुभव एक साथ होता है ''वो श्रुतज्ञान है'', यही प्रमाणज्ञान है। उस (स्व) स्थान से बाहर निकलना कठिन (दुःखमय) लगता है। ६८५.

*

जीव को क्रिया का शौक़ हो रहा है कि 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, जानने की क्रिया करता हूँ'। लेकिन एक समय के

परिणाम से 'मैं अधिक (भिन्न) हूँ'—ऐसी दृष्टि तो एक बार अवश्य होनी चाहिए। ६८६.

*

प्रथम तो मेरे में कुछ होता है न!—ऐसा अभिप्राय ही झूठ है। ६८७.

*

अपनी चीज़ का निर्णय हो जाना चाहिए—बस! जो पुरुषार्थ कहने में आता है, वह इसे-ही कहते हैं। ६८८.

*

जिस–जिस वस्तु को जीव चाहता है वह वस्तु दूर चली जाती है; नहीं चाहता वह चीज़ मिल जाती है;–यह दुनिया का नियम है। इसी तरह परिणाम पर बैठकर जो शुद्धता चाहता है, शुद्धता उससे दूर रहती है। और परिणाम मात्र का लक्ष्य छोड़कर अपरिणामी की दृष्टि करता है, तो शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। ६८९.

*

निगोद में अनंत काल बीत चुका है फिर-भी मेरे में कुछ हानि हुई नहीं और सिद्ध की अनंत पर्याय होने पर मेरे में कुछ वृद्धि होनेवाली नहीं, मैं तो ऐसा का ऐसा ही हूँ। पर्याय में मोक्ष हो तो भी क्या? परिणाम में कुछ-भी हो, वह मेरे हाथ की बात नहीं। ६९०.

*

सब बातों में निश्चय....निश्चय पकड़ लो, फिर व्यवहार की ख़तौनी करो। ६९१.

*

'अपने द्रव्य के सन्मुख हो' इसमें-भी ऐसा लगता है कि 'मैं द्रव्य के सन्मुख होऊँ।' परंतु ऐसा नहीं है; द्रव्य के अस्तित्व में अहम्पना आना—यही द्रव्य की सन्मुखता है। ६९२.

*

भेंड़ों के समूह में सिंह का बच्चा आ गया था लेकिन एक बार सिंह की आवाज़ सुनते-ही अहो! मैं तो इसकी ज़ात का सिंह हूँ (—ऐसी पहिचान हो जाती है)। ऐसे-ही यह स्वभाव की बात सुनते-ही किसी लायक जीव को ऐसी दृष्टि हो जाती है कि 'मैं तो ऐसा ही हूँ।' ६९३.

*

तुम्हारी योग्यता होगी, तो निमित्त मिल जाएगा। जब तक अंतर में डुबकी न लगे तब तक प्रयास ज़ारी रहना चाहिए। ६९४.

*

अनुकूलता देखते रहने से जीव अपने को चक्कर में डालता है परंतु उसे ख़याल नहीं है कि, मैं खुद अनुकूलता की चाह में फँस रहा हूँ। ६९५.

*

दृष्टि यहाँ ढ़ली, तो दूसरे गुणों को कहती है कि : तुमको यहाँ ढ़लना हो, तो ढ़लो। ६९६.

*

प्रयास में आगे बढ़ते जाना यही मुख्य बात है। प्रयास में रुकावट आती है तो फिर समझ कर आगे बढ़ता है। फिर रुकावट आती है तो फिर समझ लेता है। ऐसे–ऐसे प्रयास से आगे बढ़ता है, और समझ से रुकावट दूर करता जाता है।

(किसी को प्रश्न होता है कि :) इस प्रकार समझ लेने से क्या ? (परंतु वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि) प्रयास में आगे बढ़ने के लिए (यथार्थ) समझ की ज़रूरत है । ६९७.

*

पर्याय ध्रुव-स्थान को बताती (प्रसिद्ध करती) हुई व्यय को प्राप्त होती है । व्यय होना तो उसका धर्म है परंतु ध्रुव-धाम को बताती हुई व्यय होती है । ६९८.

*

तिर्यंच को तो ज्ञायक हूँ आदि किसी प्रकार का (विकल्पात्मक) भान नहीं है । परंतु अपनी तरफ़ झुके हुए परिणाम में ऐसा भावभासन हो गया है कि 'यही ठीक है, अन्य कुछ ठीक नहीं' । ६९९

*

प्रश्न : आपको प्रश्न पूछना है ।

उत्तर : दूसरे को क्या प्रश्न पूछना है ? अब तो पूछने-पूछाने को तिज़ोरी में रख दो; 'ख़ुद से पूछो' । ७००.

*

सभी जीव अब तक पाप ही पाप करते आए हैं फिर-भी वे सच्ची दृष्टि कर सकते हैं और यही कार्य सुगम में सुगम है । ७०१

*

नौ प्रकार के रस का सहज स्वभाव है कि : जिस तरफ़ का रस होता है उस प्रकार के जीवों के प्रति कृत-कारित-अनुमोदना, बहुमानादि होता है । वैसा-ही यहाँ (आत्मरस के प्रति)

भी (बहुमानादि भाव) निर्विकल्प अंश (शुद्ध परिणति) में सहज रूप से होता है, उसमें ज़ोर नहीं करना पड़ता। ७०२.

*

प्रश्न : अशुभ परिणाम की धारा चला करती है।

उत्तर : अरे भाई! वह चलती है। तो तुम्हारा क्या बिगड़ता है? उसका तुम्हारे में अभाव है। तुम्हारा कुछ बिगड़ता ही नहीं। वहाँ क्यों देखते हो? ७०३.

*

परिणाम को स्वयम् (त्रिकाली द्रव्य) नहीं कर सकता; फिर-भी वे स्वतः परिणमते ही रहते हैं, परिणमे बिना रहते ही नहीं (क्यों कि उत्पाद–व्ययरूप होना उनका स्व-भाव ही है।)

केवली को थोड़ा योग के कम्पन का दोष बाक़ी है, वे अनंत वीर्य के धनी होने पर भी, उसे टाल नहीं सकते; उसके स्वकाल में वह स्वतः नाश हो जाता है। ७०४.

*

जिस चीज़ (परभावरूप–व्यवहार क्रिया) को छोड़नी है, उसे पहले से ही हेयरूप जानी है, तो फिर वह छूट जाए तो भी क्या? उसे करने के लिए खड़बड़ाहट और आकुलता करना, वह भले-ही शुभ क्रिया है तो भी, वह (परमार्थ से) पाप ही है। और उत्कृष्ट शुभक्रिया तो आकुलता मंद होने पर ही होती है।

सुख तो अपन जहाँ बैठे हैं वहीं है; इसके लिए भी आकुलता करना पाप ही है। सुख तो स्वयम् जहाँ बैठा है वहीं है। ७०५.

❀ ❀ ❀

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ४३ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

(आसो वद १० बुधवार, दिनांक-२०-१०-१९६५)

यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे, भगवान आत्मा - कारण शुद्ध ध्रुव प्रभुको - अवस्थाका उत्पाद-व्यय होना अर्थात् पूर्व अवस्थाका अभाव सो व्यय और नई अवस्थाका होना सो उत्पाद है; तो भी पर्यायका परिणमन द्रव्यमें नहीं है। परसे तो भिन्न ही है लेकिन पर्याय भी (ध्रुव) वस्तुमें नहीं है। वस्तुमें कर्म नहीं है, शरीर नहीं है, पुण्य-पापका भाव नहीं है, उत्पादव्ययरूप पर्याय वस्तुमें नहीं है।

सुवर्णके ज़ेवरमें, सुवर्णमेंसे कड़ाकी अवस्था हुई, पीछे कुण्डलादि हुआ इसमें सुवर्ण उत्पाद-व्ययसे रहित है। - ऐसे आत्मद्रव्यमें परिणमन नहीं है, सो कहते हैं :

आत्मा एकीला (अकेला) ध्रुव पिण्ड है, उसमें राग, विकल्प, उत्पाद, व्यय नहीं है। इसलिये राग, विकल्प, पर्यायपरका लक्ष छोड़ दे ! वस्तु, उत्पाद-व्यय परिणमन बिना की है। पर्यायार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय रहित है। वस्तु अनादि-अनंत है, है और है। उसमें अवस्थाका होना और नाश होना, सो अंतरमें नहीं है - ध्रुवमें नहीं है। यह किसके घरकी बात है? यह द्रव्य है, चिद्घन है। आत्मा एकीला चिद्घन है, ध्रुव है, ध्रुव है, प्रत्यक्ष है, नित्य है, एकरूप है, जिसको भाव-अभाव नहीं। भाव अर्थात् पर्यायका उत्पन्न होना और अभाव अर्थात् पर्यायका अभाव होना, सो वस्तुके भीतरमें नहीं है।

देखो, वस्तुके स्वभावकी अचिंत्यता, अपरिमितता, बेहदता ! स्वभावका सामर्थ्य पूर्ण ध्रुव है। ध्रुववस्तुमें पर्यायका उत्पादद्रव्ययरूप

परिणमन नहीं है। द्रव्य सदा ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, वस्तु...वस्तु...वस्तु सदा नित्य...नित्य...नित्य है - ऐसा अंतर ध्रुव भगवान आत्मामें वीतरागी शांति द्वारा, निर्विकल्प शांति द्वारा, उसके बल द्वारा - देखो; रागके बल द्वारा नहीं, निमित्तके बल द्वारा नहीं, शरीरके बल द्वारा नहीं, शरीरका संघयणका बल था इसलिए हुआ - ऐसा भी नहीं; सो परमात्माको - निजस्वरूप ध्रुव...ध्रुव चिद्घनको निर्विकल्प शांति द्वारा, अंदरमें वीतरागी शांत समाधि द्वारा, उसके बलसे; श्री तीर्थंकरदेवने, ऐसे ध्रुवस्वरूपको - देहमें रहा हुआ सो निमित्तसे कहा; इसमें यह भगवान ऐसा है, ऐसा - अंतरमें देख लिया है।

भावाभावहिं संजुवउ भावाभावहिं सो जि।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं मुणि परमप्पउ सो जि।।४३।।

अहा...हा...हा...हा...! यह परमात्म प्रकाश है न ! आत्मा देहमें रहा है, सो असद्भूत उपचरित व्यवहार। असद्भूत पर्याय सो व्यवहार। द्रव्यार्थिकनय सो निश्चय। इसमें पर्याय है सो व्यवहार। व्यवहार है ही नहीं, ऐसा कौन कहता है ? ऐसे रागादि हैं ही नहीं, ऐसा किसने कहा ? यह व्यवहार और रागके सहारे निश्चय है, ऐसा नहीं है। पर्याय-व्यवहारके सहारे द्रव्य है, ऐसा नहीं।

अहा...हा...हा...! यह अनादि - अनंत पदार्थ है कि नहीं ? अंदरमें पुण्य और पाप, आये और गये। भगवान आत्मा अनादि-अनंत ध्रुव पदार्थ है कि नहीं ? यह आत्माकी वर्तमान दशामें, हालतमें, उत्पाद-व्ययका होना सो व्यवहार है। इसलिए एक न्यायसे उसको अभूतार्थ कहा है। तो भी आश्रय लेनेवाली पर्याय है। और पर्याय है सो व्यवहार है। और व्यवहारसे निश्चय प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है।

प्रश्न :- निश्चयका आश्रय तो व्यवहारने (-पर्यायने) किया ने ?

उत्तर :- पर्यायने आश्रय किया, तो किसका किया ? - द्रव्यका किया। पर्यायने विषय किया है अर्थात् भूतार्थ द्रव्य इसका विषय है। पर्यायके आश्रयसे भूतार्थ विषय नहीं होता है। यह सूक्ष्म बात है।

एकदम आत्मा ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, अपरिणामी - निहालभाई कलकत्तावाले कहते थे - ऐसा है। लोगोंको माननेमें नहीं आता था, लोगोंको ख़बर नहीं। निहालभाई अजमेरके (रईस) थे। वस्तु एकीला ध्रुव है, अपरिणामी है। द्रव्य, वस्तु अपरिणामी है। पर्याय परिणमती है। द्रव्य, वस्तुको परिणमन कैसा ?

यद्यपि उत्पाद और व्ययकर सहित है अर्थात् `परिणतः' शब्द संस्कृतमें पड़ा है। भाई ! यह तो बादशाहका घर है। साधारण बादशाहके यहाँ भी ठीक होकर जानेका होता है; तो फिर यह तो परमात्मा खुद, तीनलोकका नाथ आत्मा खुद है। एकीला ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव है। पर्याय भले ही परिणमनमें हो। लेकिन ध्रुवमें पर्याय नहीं है।

यह परमात्म प्रकाश है ! एक समयकी पर्याय परमात्मा नहीं, यहाँ तो द्रव्य परमात्मा है। यह भाव-अभावसे रहित है। उत्पाद-व्यय सहित है, तो भी द्रव्यार्थिकनयसे उत्पाद-व्यय रहित है। यह आत्मा ध्रुव...ध्रुव एकरूप चिदानन्द है, परिणमन रहित है, एकीला वीर्य पिण्ड प्रभु है। आत्मा एकीला चैतन्य दलरूप है। पूर है, जिसमेंसे अनंत केवलज्ञान चला आवे। आत्मा अर्थात् एकीला आनंद जो ध्रुव है वह परिणमन रहित है।

द्रव्यार्थिकनय अर्थात् जिसका प्रयोजन एकीला ध्रुवको जाननेका है। जो ज्ञानका पर्याय ध्रुवको जानना चाहता है, यह ध्रुवमें परिणमन नहीं है। यह आत्मा अनंतगुणका पिण्ड पड़ा है। निर्मल पर्याय, क्षायिक सम्यक्त्वकी पर्याय, यथाख्यातचारित्रकी पर्याय भी वस्तुमें कहाँ है ? संसारपर्यायका व्यय और कैवल्यका उत्पाद - दोनों ध्रुवमें नहीं है। यह अनादि-अनंत भगवान अंतर ध्रुव वस्तुको जिनवरने देहमें रहनेपर भी जान लिया है, ध्रुवको देख लिया है, पूरे द्रव्यको एक समयमें देख लिया है - ऐसा कहते है।

यह द्रव्यकी दृष्टि हुई कि द्रव्य सिद्धअवस्थारूप, केवलज्ञानरूप परिणमता है। सिद्धस्वरूपका पिण्ड ही आत्मा है। पर्यायमें सिद्ध होता

है, अर्थात् वस्तुतासे सिद्धस्वरूप ही आत्मा है। द्रव्य तो ध्रुव...ध्रुव अनादि-अनंत सिद्ध है, परमात्म स्वरूप है, उसमें अनंत परमात्मा विराजते हैं। वस्तु पूरा वीतराग पिण्ड है, उसको भगवान परमात्मा अरिहंत तीर्थंकरदेवने देख लिया कि यह द्रव्य, यह वस्तु, उत्पाद-व्यय रहित है। जाननेवाली भले ही पर्याय, लेकिन जानी हुई वस्तु ध्रुव; उसको वीतराग निर्विकल्प आनंदरूप समाधि द्वारा तद्भव मोक्षके साधक ऐसे जिनवरदेवने देहमें भी जान लिया है। ऐसा नहीं कि मोक्ष होगा तभी जानेंगे। यहाँ ने यहाँ जान लिया है कि यह ध्रुव है। ऐसा जान लिया है।

भाई ! जिसमें परिणाम नहीं है। अहा...हा...हा...हा...! गज़ब बात है ! द्रव्य परमात्मा ऐसा का ऐसा त्रिकाल पिण्ड है, ऐसा वीतराग समाधिके बलसे अनुभवकर - ऐसा शिष्यको भी कहते हैं कि अनुभव कर !

श्री परमात्मप्रकाश-गाथा ६५ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

(सं. २०२२, कारतक वद १, दि. १०-११-१९६५)

बन्धु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेई।
अप्पा किंपि कि कुणइ णवि णिच्छउ एऊँ भणेइ।।६५।।

भगवान तीर्थंकरदेव, सर्वज्ञदेव, परमात्मा ऐसा कहते हैं - यह वस्तु है जो आत्मा, सो आत्मा, सो ध्रुव, चैतन्य, आनन्दकन्द, ज्ञायकमूर्ति, अनन्तगुण का ध्रुवस्वभाव आत्मा है। आत्मा वस्तु जो है सो ध्रुव, बिना आदि-अन्त का, अकृत्रिम, सामान्य ध्रुवतत्त्व है। आत्मा क्या है? उसकी जीव ने अनन्तकाल में दृष्टि नहीं की।

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव, जिसने एक समय में, सूक्ष्मकाल में तीनकाल-तीनलोक प्रत्यक्ष देखा और जाना - ऐसा अरिहंत भगवान, जिसने एक समय में, केवलज्ञान-केवलदर्शन की दशा द्वारा तीनकाल, तीनलोक देखा-जाना; वो भगवान की वाणी में ऐसा आया कि भैया ! निश्चय से अर्थात् सत्य दृष्टि से देखा जाय तो वस्तु भगवान आत्मा, सत्, शाश्वत, ध्रुवपदार्थ है, जिसमें बेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्द ऐसी शक्तियों का सत्त्वरूप आत्मतत्त्व है। सो वस्तुतत्त्व पर को ग्रहे या छोड़े सो वस्तु में नहीं।

वस्तु, खुद शाश्वत आनन्द, अनादि-अनन्त, ध्रुव, चैतन्य की मूर्ति, अनन्तगुण का सामान्य ध्रुव एकरूप-ऐसा निश्चय आत्मा, ऐसा सत् भगवान पर को ग्रहे या छोड़े, सो वस्तु के स्वरूप में नहीं है। भगवान क्या कहते हैं ? सो जीव ने कभी वास्तविक तत्त्व को सुना ही नहीं। परमात्मा तीर्थंकर जिनवर देव ने ऐसा कहा है - अनन्तकाल से यह वस्तु जो है खुद पदार्थ, स्वयं अनन्त आनन्दरूप है। नव तत्त्व में आत्मा है सो ध्रुव, ज्ञायक, आनन्दकन्द, सत् चिदानन्द, शुद्धस्वरूप जैसा पर्याय में भगवान का है, ऐसा यह आत्मवस्तु का स्वरूप है। सो वस्तु खुद पर को बन्धन करे या छोड़े सो वस्तु के स्वरूप में नहीं।

सो वस्तु अखण्ड, आनन्द, ज्ञायकमूर्ति, सत्चिद्, अनादि-अनन्त, अकृत्रिम सत्त्व, आत्मवस्तु खुद एक समय की अवस्था में नहीं आती। पर्याय जो है उसमें - अवस्था में - हालत में, वस्तु की अन्तरसन्मुख की दृष्टि बिना, परसन्मुख की दृष्टि से, एक अंश के लक्ष से, उत्पन्न हुआ मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव उसको कर्म कहने में आता है, यह भावकर्म है। और उसके निमित्त से बन्ध हुआ रजकण-जड़-ज्ञानावरणादि आठ कर्म, ये जड़ कर्म हैं। वे भावकर्म हैं और ये जड़कर्म हैं। वस्तु खुद परमस्वरूप, परमात्मा स्वयं है। यह परमात्म प्रकाश है। यह बात अब की है भैया ! यदि तू परमात्मा पूर्ण न

हो तो पर्याय में परमात्मा कहाँ से होगा ? छोटी पीपर के प्रत्येक दाने में पूर्ण चरपराई भरी न हो तो घिसनेपर बाहर आवेगी कहाँ से ? क्या चरपराई बाहर से आती है ? भीतर में शक्तिरूप पड़ी है सो प्रगट होती है। ऐसे भगवान आत्मा, अरिहन्त और सिद्ध की अवस्थारूप, पर्यायरूप, केवलज्ञान, केवलदर्शन, पूर्ण आनन्दरूप `परमात्मा' पर्याय में होता है, सो पर्याय कहाँ से होती है ? क्या बाहर से आती है ? आप खुद परमात्मा अनन्तगुण की खान-निधान वस्तु है। द्रव्य ऐसा जो आत्मा, उसकी अन्तर दृष्टि नहीं करके, अनादि से बाह्यदृष्टि द्वारा, पूर्ण पदार्थ क्या है - वैसा दृष्टि में न लेनेपर, वर्तमान अंश को, राग को, विकल्प को, इन्द्रिय को लक्ष में लेकर वर्तमान पर्याय में विकार उत्पन्न करता है। सो कर्म के लिये हुए चतुरगति में भ्रमण करता है, बन्ध को प्राप्त होता है; कर्म के अभाव से मुक्ति है। वस्तु आत्मा तो त्रिकाल निर्विकल्पस्वरूप है। - यह सूक्ष्म बात है। आत्मतत्त्व अर्थात् भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने कहा ऐसा आत्मा, एक सेकन्ड भी अनन्तकाल में, दृष्टि में लिया नहीं। और सब विपरीत कर-कर परेशान हुआ, - ऐसा भगवान सर्वज्ञ कहते हैं।

भगवान सर्वज्ञ समवसरण में विराजते हैं तब इन्द्रादि की उपस्थिति में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, आदि को ऐसा कहते हैं। महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान में भगवान सीमन्धर परमात्मा मनुष्यदेह सहित विराजते हैं सो भगवान ऐसा फ़रमाते हैं : भो आत्मा ! चार गति का बन्धन और यह बन्धन का अभाव - ये दोनों वस्तु के स्वरूप में नहीं हैं। वर्तमान पर्याय नयी उत्पन्न होती है और व्यय होती है।

भावार्थ :- अनादिकाल से कर्म और आत्मा का सम्बन्ध है। कर्म रजकण वस्तु है, सूक्ष्म धूलि जड़ है। आत्मा अरूपी चैतन्य आनन्दकन्द है। उसकी समीप में (एक क्षेत्रावगाह) आठ कर्म-ज्ञानावरणादि-सूक्ष्म धूलिरूप है; - उसका सम्बन्ध अयथार्थस्वरूप अर्थात्

झूठी नय से - अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है।

ये अन्तर की बातें जीव ने सुनी नहीं। अनन्तबार नवमी ग्रैवेयक गया, लेकिन वास्तविक तत्त्व-चैतन्यभगवान का सम्यक्ज्ञान जीव ने एक सेकन्डमात्र भी किया नहीं, ऐसा सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं। बिना आत्मज्ञान सब किया, क्रियाकांड, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि बहुत शुभभाव हुआ, स्वर्ग में भी गया, लेकिन उससे जन्म-मरण का अन्त आया नहीं। धूलि का देव हुआ, धूलि का राजा हुआ, धूलि का (पैसावाला) सेठ हुआ, लेकिन भगवान आत्मा की श्रद्धा व ज्ञान जीव ने अनन्तकाल में किया नहीं। ऐसा जो भगवान आत्मा उसको अनादि से अयथार्थरूप अर्थात् झूठी, अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से आठ कर्म का सम्बन्ध है। - इस प्रकार की बात ही अभी तो चलती नहीं। धर्म के नामपर हा-हो और धमाल होती है। कितने लोग तो व्यापार-धंधेमें से निवृत्ति नहीं पाते हैं और कितने धर्म के नामपर बाह्य क्रियाकांड में सन्तुष्ट हैं। वस्तु क्या है ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? उसका कैसा-कैसा सम्बन्ध है ? कौन सम्बन्धसे परिभ्रमण है ? - कुछ पता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि भगवान आत्मा का अन्तरस्वरूप बेहद ज्ञान और आनन्द का कन्द है। उसको अनादि से जड़ कर्म का सम्बन्ध झूठी नय से है; वास्तविक सम्बन्ध नहीं होने से झूठी नय से सम्बन्ध कहा। समीप है इसलिये सम्बन्ध; निमित्त है इसलिये व्यवहार कहा। जड़कर्म का बन्ध अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से अर्थात् झूठी नय से है, ऐसा कहने में आता है। यह चैतन्य और वे जड़ - दोनों का सम्बन्ध झूठी नय से है; तो कुटुम्ब-परिवार का आत्मा से सम्बन्ध है ही नहीं।

दूसरी बात :- भगवान वस्तु, परमात्मस्वरूप, स्वयं द्रव्यस्वरूप, अखण्ड, ज्ञायकभाव-तत्त्व, उसको पुण्य-पाप-दया-दान-काम-भोगादि के भाव हैं, सो अशुद्ध निश्चयनय से हैं अर्थात् वर्तमानअंश में है। रजकण

दूर है; उसकी जाति में और अंश में नहीं है - वस्तु जो ध्रुव त्रिकाल है, उसमें तो कर्म नहीं है लेकिन एक समय की अवस्था में भी कर्म नहीं है। वस्तु जो है अखण्ड, आनन्द, ज्ञायकमूर्ति, चिदानन्द, परमात्मा खुद, ऐसा जो भगवान आत्मा को वर्तमानअवस्था में सम्बन्ध है। कर्म तो दशा में नहीं थे इसलिये झूठी नय से सम्बन्ध कहा था। यहाँ तो वर्तमानदशा में सम्बन्ध है, इसलिये दशा में निश्चय है लेकिन अशुद्ध है। पुण्य, पाप, काम, क्रोध, दया, दानादि के विकल्प जो उठते हैं सो विकार है, राग है, सो एक अंश में है - इसलिये निश्चय कहा और अशुद्ध होने से अशुद्धनिश्चय से सम्बन्ध है - ऐसा कहा। यह तो `परमात्म प्रकाश' है। बहुत अलौकिक गाथा है।

रागादि भावकर्म अर्थात् पुण्य और पाप के जो विकल्प उठते हैं अर्थात् शुभ-अशुभभाव उठते हैं सो मलिन होने से भावकर्म कहने में आता है, सो उस पर्याय का भाव है, द्रव्य का नहीं। `द्रव्य', पर्याय बिनाका है। द्रव्य में पर्याय कहाँ है ? ध्रुव वस्तु है उसमें पर्याय कहाँ थी ? द्रव्य तो द्रव्य ही है।

भगवान आत्मा अनादि-अनन्त, अकृत्रिम वस्तु सत् है, अनन्तकाल का एक ही सत्त्व है सो वस्तु बेहद ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरा हुआ, सत्त्व का तत्त्व - ऐसा जो द्रव्य, उसकी वर्तमान एक समय की अवस्था में पर का सम्बन्ध कहना सो ध्रुव के लिये असद्भूत अर्थात् झूठी नय से है। और ऐसा अखण्ड पूर्ण द्रव्य होनेपर भी, उसके एक अंश में पुण्य, पाप, राग, द्वेष; और यह पुण्य और पुण्य के फल ठीक है - ऐसा जो मिथ्यादृष्टि का मिथ्यातभाव; सो पर्याय के एक अंश में है। अंश में है, इसलिये निश्चय कहा और मलिन होने से अशुद्ध कहा। भगवान आत्मा एक सेकन्ड के असंख्य भाग में पूरण, ध्रुव, आनन्दकन्द, द्रव्य वस्तु है, उसका राग और विकल्प में प्रेम करके अनादर किया; हे जीव ! उसमें तेरे जीवन का घात होता है।

परम आनन्दमूर्ति भगवान वस्तु, जिसकी खान में अनन्त परमात्मा पड़ा है, सिद्ध की समय-समय की अनन्त अवस्था होती है, ऐसा अनन्त परमात्मा आत्मद्रव्य में पड़ा है - ऐसा जो आत्मद्रव्य वस्तु, उस वस्तु का वर्तमान पर्यायअंश में आदर छोड़कर, एक समय के अंश का आदर किया, इसलिये मिथ्यात्व भाव हुआ, और इसलिये जो राग-द्वेष हुआ सो अशुद्धनिश्चय से हुआ है। शुद्धनिश्चय स्वभाव में वे नहीं हैं।

भगवान ! तेरी बात भगवान कहते हैं। भगवान सर्वज्ञ प्रभु समवसरण-धर्मसभा में कहते थे। दिव्यध्वनि में ऐसा आया कि प्रभु ! तू पूर्ण स्वरूप वस्तु है। इसका तूने आदर नहीं किया और एक समय की पर्याय को लक्ष में लेकर, मिथ्याभ्रम और राग-द्वेष उत्पन्न किये हैं, सो एक समय की पर्याय में, तेरी पर्याय के अस्तित्व में उत्पन्न हुआ विकार है। यह विकार और तेरा सम्बन्ध अशुद्धनिश्चय से है। भाई तू कौन है ? और तेरी भूल कितनी ? कितने समय की ? इसका विचार तूने कभी किया नहीं।

यहाँ कहते हैं कि भगवान ! वास्तव में तेरा स्वरूप - अशुद्धनिश्चय से उत्पन्न हुये विकार और कर्म के सम्बन्ध बिना का - त्रिकाली पूर्ण वस्तुरूप है। एक समय में भगवान पूर्णानन्द वस्तु है; और अशुद्धता है सो आत्मा की अवस्था में है। उसको त्रिकाली के साथ अशुद्धनिश्चय से सम्बन्ध कहने में आता है।

संयोग सब कहाँ रहा ? उसके साथ सम्बन्ध कैसा ? स्त्री, दुकान, ज़ैवर, मकान, आदि के साथ का सम्बन्ध असद्भूत-झूठी नय से-व्यवहार से, निमित्तरूप होनेसे उपचार से है - दूर है इसलिये। कर्म के रजकण नजदीक है, एक क्षेत्रावगाह है, इसलिये उसको अनुपचार कहा; फिर भी असद्भूत है क्योंकि जीव की पर्याय में नहीं है, भिन्न है। वे एक क्षेत्र में भिन्न हैं; और संयोग भिन्न क्षेत्र में भिन्न है; इसलिये असद्भूतनय से उपचार है। वास्तव में इसके

साथ सम्बन्ध नहीं है। शरीर को आत्मा थोड़े ही रख सकता है? शरीर की अवस्था, राग और विकल्प के आधीन त्रिकाल में नहीं है, ऐसा भगवान कहते हैं। अजीवतत्त्व की अवस्था को जीव यदि करे तो अजीव की स्वतन्त्रता नहीं रहती। भगवान कारणतत्त्व में, यह धूलि नहीं है - यह भिन्न तत्त्व है। एक समय की अवस्था में मलिन पुण्य-पाप के भाव सो अशुद्ध अंश है। वह अंश से बन्द हुआ। कर्म से बन्ध और कर्म छूटने से मुक्ति होती है। पर्याय में बन्ध-मुक्ति है, वस्तु में बन्ध-मुक्ति नहीं। वीतराग सर्वज्ञकथित तत्त्व सन्तों ने आसान कर दिया है।

जड़कर्म से मुक्ति भी असद्भूतव्यवहार से है। यह असद्भूत सम्बन्ध था और पुण्य-पाप के भाव का सम्बन्ध भी असद्भूतनिश्चय से था - ये दोनों छूट गया। यह सूक्ष्म बात है। वीतरागकथित तत्त्व बहुत गूढ़ है।

भगवान आत्मा वस्तु, अनादि-अनन्त ध्रुवतत्त्व, उसकी पर्याय में ऐसा दो प्रकार कहा - अवस्था में मलिनभाव सो अशुद्ध निश्चय से सम्बन्ध कहा और रजकण का सम्बन्ध एकक्षेत्रावगाह होने से असद्भूतअनुपचार कहा। दो नय से बन्ध और मुक्ति को कहा कि असद्भूत से बन्ध और असद्भूत से मुक्ति। यद्यपि मुक्ति आत्मा के आश्रयपूर्वक है तो भी व्यवहार से कहने में आती है। निश्चय शुद्ध परमात्मा को बन्ध का होना और बन्ध का अभाव, सो द्रव्य में - वस्तु में नहीं; इसको यहाँ शुद्ध कहते हैं। एक समय की अवस्था में बन्ध और बन्ध का अभाव है; सो बन्ध के अभाव की अपेक्षा भी अशुद्धनिश्चय से लागू होती है। अशुद्धनिश्चय और व्यवहार एकार्थ है। उसका अंश है इसलिये व्यवहार से बन्ध और व्यवहार से मुक्ति है। निश्चयस्वरूप भगवान द्रव्यस्वरूप में - बन्ध और मुक्ति - वस्तु में नहीं है। भाई ! वस्तु जो है सो त्रिकालीतत्त्व है, उसमें बन्ध होवे तो वस्तु का अभाव हो जाय और इसकी मुक्ति का अर्थ क्या?

वस्तु में बन्ध और मुक्ति है नहीं। यहीँ तो उपचार से कहकर व्यवहार में, बन्ध-मुक्ति दोनों को डाला है।

भाई ! तेरा पदार्थ भगवान जितना बड़ा पदार्थ है ! भगवान का आत्मा और यह आत्मा में वस्तुता से कुछ फ़र्क़ नहीं। इन्होंने अवस्था में - पर्याय में फ़र्क़ किया। पर्याय अर्थात् व्यवहार से फ़र्क़ हुआ। वस्तु में फ़र्क़ नहीं है। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है। चैतन्य का पिंड प्रभु आत्मा है। एकीला चैतन्य का प्रकाश का पिंड प्रभु आत्मा है। इसका अभान होने से, एक समय की अवस्था में उत्पन्न किया हुआ विकार-विकल्प, मिथ्यात्वभाव-परलक्षीभाव-जिसके निमित्त से जड़कर्म बन्धा - ये दोनों अशुद्धव्यवहारनय से है। शुद्धनिश्चय से वस्तुस्वरूप में वस्तु है सो है।

वास्तव में तो भगवान आत्मा वस्तु है, उसका आश्रय करके पर्याय हुई, सो भी भेदरूप हुई न ? यह व्यवहार हुआ। मोक्षमार्ग भी व्यवहार हुआ। यहां निश्चय-व्यवहार की (जो मोक्षमार्ग की पर्याय होती है, इसकी) बात नहीं है। यहाँ तो द्रव्य-पर्याय की बात है। भगवान आत्मा, वस्तु...वस्तु...वस्तु...अनादि-अनन्त, ध्रुव, अनन्त गुण का पिंड, उसका सम्यग्दर्शन में आश्रय किया और जो (निर्मल) पर्याय प्रगट हुई, तो पर्याय व्यवहारनय का विषय है। पर्याय है सो व्यवहारनय का विषय है। अन्तर में पूर्ण एकाग्र होनेपर केवलज्ञान प्रगट हुआ, सिद्ध हुआ, ये सब व्यवहारनय का विषय है। व्यवहार अर्थात् त्रिकाली द्रव्य का एक अंश है। शुद्धदशा भी एक अंश है, त्रिकाली स्वरूप नहीं। संसार भी पर्याय है, और मोक्ष भी निर्विकारी पूर्ण दशा है। वस्तु तो अनादि-अनन्त ध्रुव है।

वस्तु जो शुद्ध पारिणामिक स्वभाव है, जो कभी परिणमती नहीं है, उत्पाद्-व्यय में नहीं आती है। आत्मा में नई अवस्था उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्था का नाश होता है, सो पर्याय का कार्य है। वस्तु ध्रुव है, सो जैसी की तैसी है। अविनश्वर शक्तिमान स्वतत्त्व है, सो

शुद्ध पारिणामिक है अर्थात् परम सत्यस्वरूप, एकरूप परमभाव है। विकार-पर्याय एक समय का भाव, अपरमभाव है। उसको, वस्तु जो त्रिकाली है सो शुद्ध परमभाव को ग्रहण करनेवाला निश्चयनय से, नहीं करती है। भगवान शुद्ध पारिणामिकवस्तु स्वयं न तो बन्ध को करती है और न बन्ध के अभाव को करती है। केवलज्ञान भी एक समय की दशा है, केवलज्ञान भी त्रिकालीवस्तु नहीं। त्रिकाली को जाननेपर भी केवलज्ञान एक समय की दशा है। सिद्ध भी एक समय की दशा है।

उत्पाद्-व्यय-ध्रुवस्वरूप वस्तु क्या है ? अवस्था में क्या है ? पर में क्या ? इसको दूसरा कौन-कौन के साथ कैसा सम्बन्ध है ? ये सब जाने बिना, हे जीव ! तू क्या करेगा ? हरितकाय आदि का त्याग करता है, लेकिन त्याग क्या है ? इसकी खबर नहीं, तो त्याग कहाँ से किया ? ऐसे जीव को आत्मा का - खुद का त्याग दृष्टि में होता है।

एक समय की हालत है, जो दशा, सो दशा संसार की हो या संसार के अभाव की हो, वस्तुस्वरूप परमपारिणामिक सत्...सत्..सत्... अनादि-अनंत ऐसा आत्मा, एक नय से विकार को करता भी नहीं, विकार को टालता भी नहीं। बंध और मोक्ष से रहित भगवान वस्तुस्वरूप है। ध्रुव....ध्रुव...अखण्डानंद द्रव्य में, वर्तमान पर्याय का बंध और बंध का अभाव वस्तु में नहीं है - ऐसा भगवान ने कहा है। त्रिलोकनाथ भगवान तीर्थंकरदेव सौ इन्द्रों की उपस्थिति में ऐसा फ़रमाते थे।

परमात्मा सीमंधर प्रभु महाविदेह क्षेत्र में बिराजते हैं। ऐसे बीस तीर्थंकर वर्तमान में बिराजते हैं। कितने लाख केवली बिराजते हैं - यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह भगवान फ़रमाते हैं - त्रणकाल के भगवंत यही फ़रमाते हैं - वस्तु जो एकरूप द्रव्य, परमस्वरूप, त्रिकाल आनंदकंद, ज्ञायक द्रव्य, ऐसा शुद्धात्मा आराधने योग्य है। आराधनेवाली तो पर्याय है। वस्तु अंतर अनंतगुण का पिंड, एकरूप,

ध्रुववस्तु जिसमें बंध-मोक्ष की पर्याय नहीं है, ऐसा आत्मा भीतर में श्रद्धान के योग्य है, अर्थात् उसकी दृष्टि और अनुभव करने योग्य है। ऐसा अखण्डानंद द्रव्य चैतन्यमूर्तिपर अंतर में टकटकी लगाकर एकाग्रता करनी योग्य है। - ऐसी एकाग्रता का नाम धर्म है, अर्थात् मोक्षमार्ग है।

भाई ! सुन तो सही तेरी रिद्धि !! तू कैसा है ! और कितना है ! सुने बिना कैसे समझे ? और बिना समझे धर्म कहाँ से हो ? (बाजार में) माल लेने को जाता है तो भी यही चीज़ लेना है ऐसा निश्चय करता है, वरना काम कैसे होय ? ऐसे यह आत्मा कैसा है ? इसको देखना है, ग्रहना है, समझना है, वरना धर्म कहाँ से होगा ? धर्म करना है, लेकिन होगा कैसे ? इसकी ख़बर नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि धर्म सीधा आत्मामें से होता है। शुद्ध वस्तु अखण्डानंद प्रभु आत्मा, इसकी अंतर श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव करने पर धर्म आत्मामें से आता है; दूसरी ओरसे धर्म आ सके, ऐसा नहीं है।

शुद्धा आत्मा प्रभु जिसको एक समय की पर्याय - राग की अवस्था, बंध और बंध के अभाव की - नहीं है, ऐसी जो ध्रुववस्तु परमात्मा चैतन्यतारा, उसको पहचानकर, दृष्टि-ज्ञान करके, ठरने योग्य है; इसके बिना, वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के पंथ में दूसरा कुछ मार्ग नहीं है। लोग दूसरा मानते हैं, कल्पना करते हैं। (जैन) संप्रदायवाले को पता नहीं है तो दूसरे को तो पता कहाँ से हो ?

श्री परमात्माप्रकाश-गाथा ६८ पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन

(कार्तिक वद ५, दिनांक २३-१२-६५, शनिवार)

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउँ भणेइ।।६८।।

यद्यपि यह आत्मा, वस्तु जो द्रव्य, शुद्ध परमपारिणामिकभावरूप वस्तु है, सो वस्तु न बंध की कर्ता है, न मोक्षमार्ग की कर्ता है, न मोक्ष की कर्ता है - यह सूक्ष्म बात है। वस्तु जो द्रव्य ध्रुववस्तु है, सो संसार के भाव को नहीं करती है, मोक्षमार्ग को नहीं करती है और मोक्ष को नहीं करती है।

आत्मा अखण्डानंद ध्रुवतत्त्व वस्तु, ऐसा आत्मा, जन्म, मरण, बंध, मोक्ष आदि अवस्था को नहीं करता है। वर्तमान पर्याय में - वस्तु शुद्ध द्रव्य है ऐसी शुद्धात्मानुभूति का अभाव होनेसे - शुभ-अशुभ उपयोग को करता हुआ, जीवन-मरण, शुभ-अशुभ कर्मबंध को करता है। वस्तु तो पर्याय रहित ध्रुव है। वस्तु जो है - निश्चयतत्त्व, सो निश्चय का विषय है। और उसकी जो पर्याय है सो व्यवहारतत्त्व, व्यवहार का विषय है। ऐसे आत्मा का व्यवहारतत्त्व है सो पर्याय है। और आत्मा का निश्चयतत्त्व है सो एकरूप ध्रुव....ध्रुव...ध्रुव... है। और व्यवहारतत्त्वरूप पर्याय में जब तक वस्तु का लक्ष, रुचि, स्थिरता, अनुभूति, मोक्षमार्ग का अभाव है तब तक शुभाशुभ भाव को पर्याय करती है। आत्मा करता है उसका अर्थ द्रव्य नहीं, पर्याय करती है। द्रव्य चैतन्यभगवान, ज्ञायकस्वरूप जो वस्तु है, सो तो पर्याय बिना की, उत्पाद-व्यय बिना की है। उत्पाद-व्यय जो है सो व्यवहारनय का विषय आत्मा है। निश्चय का विषय त्रिकाल ध्रुव है। निश्चयतत्त्व जो वस्तु, उसके अनुभव की व्यवहारपर्याय जो है अनुभूति अर्थात् ज्ञायकमूर्ति का श्रद्धान, ज्ञान, रमणतारूप अनुभव अर्थात् मोक्ष का मार्ग ऐसी जो शुद्ध व्यवहारपर्याय,

उसके अभाव में पर्याय में शुभ-अशुभभाव को करता है और शुभअशुभाव के कारण जन्म-मरण को करता है; और शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होनेपर शुद्धोपयोग से परिणत मोक्ष को कर्ता है। (- इसका विवरण :) वस्तु तो वस्तु है। सो वस्तु ज्ञायक चैतन्य पदार्थ - उसके अनुभवरूप श्रद्धान, ज्ञान और शांति सो अनुभूति - पर्याय प्रगट होनेपर जो आत्मा की व्यवहारपर्याय, मोक्षमार्ग की पर्याय, उसको व्यवहारतत्त्व कहने में आता है। शुद्धोपयोग से परिणत यह भी पर्याय अर्थात् व्यवहार आत्मा है। शुद्धस्वभाव में एकलक्ष करके, शुद्धोपयोगरूप पर्यायरूप परिणमकर, मोक्ष को कर्ता है सो भी व्यवहार है। मोक्षपर्याय भी व्यवहार है। द्रव्य जो है निश्चय ध्रुव, उसमें बंध, मोक्ष, मोक्षमार्ग नहीं है। निश्चयनय की सत्वस्तु त्रिकाल एकरूप है।

भाई ! ध्रुवतत्त्व, त्रिकाल एकरूप सदृश तत्त्व है, उसमें बंध-मोक्ष नहीं है। मात्र एक समय की पर्याय में - उत्पाद-व्ययरूप पर्यायरूप व्यवहार में, शुद्धात्मानुभूति के अभाव से, शुभाशुभ परिणमता है और जीवन-मरण करता है; और यही द्रव्य स्व की शुद्धात्मानुभूति के काल में, शुद्धोपयोगरूप परिणमन करके मोक्ष को करता है। मोक्ष की पर्याय को कार्यरूप करता है, सो मोक्ष भी व्यवहारपर्याय है। निश्चयद्रव्य में पर्याय नहीं है। इस प्रकार अवस्था में होनेपर भी शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहक शुद्धनय से आत्मा बंध और मोक्ष को कर्ता नहीं है। शुद्ध पारिणामिकभाव, ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव, एक समय की अवस्था, पर्याय, उत्पाद-व्यय बिना का तत्त्व है। निश्चयआत्मा बंध-मोक्ष का कर्ता नहीं। पर्यायरूप व्यवहार आत्मा, शुभाशुभ बंध को करे और पर्याय में अनुभूति से मोक्ष को करे। वस्तु सदृश रहनेवाली चीज़ चैतन्य....चैतन्य...चैतन्य, एकरूप रहनेवाली वस्तु सो निश्चयनय का विषय है - यही निश्चयतत्त्व है। अवस्था का उत्पन्न होना और अवस्था का नाश होना, यह व्यवहारनय का विषय है - यह पर्यायतत्त्व है। यहाँ परद्रव्य के साथ कुछ संबंध नहीं है, इस प्रकार के व्यवहार की

बात नहीं है। निश्चय ध्रुव में पर्याय नहीं है, एकला ध्रुव है, सदृशभाव, शुद्ध पारिणामिकभाव, त्रिकाल एकरूप, अनंतगुण का एकरूप - उसमें बंध नहीं है, मोक्ष नहीं है और मोक्ष का मार्ग नहीं है। वस्तु तत्त्व है, उसका दो प्रकार - एक शाश्वत रहनेवाला सदृश है और एक पर्यायरूप होनेवाला विसदृश है। विसदृश का अर्थ विकार नहीं - उसका अर्थ उत्पाद-व्ययरूप होना - ऐसा है। यह सब पर्याय अपरमभाव है। मोक्ष, मोक्ष का मार्ग ये सब अपरमभाव है, क्षायिकभाव भी अपरमभाव है, परमभाव नहीं है। त्रिकाली ध्रुव सदृश रहे सो परमभाव है। यही ध्रुवपर दृष्टि देना, पर्याय की ओर न देखना, तो मुक्ति होगी, ऐसा कहने का अभिप्राय है।

ध्रुव का आखा कंद पड़ा है; इसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता, ज्ञान नहीं होता, चारित्र नहीं होता, मुक्ति नहीं होती। कार्य होता है पर्याय से। लेकिन यह `कारण' जो `महा भगवान' कैसा है !! - उसकी श्रद्धा, ज्ञान बिना मोक्षमार्ग उत्पन्न नहीं होता।

वीतराग सर्वज्ञदेवकथित तत्त्व को, जीवने जाना नहीं। `भगवान आत्मा, सदृश ध्रुव, परमपारिणामिकभाव है' इस दृष्टि से देखने में आवे तो बंध और मोक्ष इसमें नहीं है। मोक्ष भी अपरमभाव है। मोक्ष का मार्ग तो अपरमभाव है ही, मगर केवलदर्शन, केवलज्ञान, केवलआनंद, केवलवीर्य ये भी एक समय की पर्याय - अपरमभाव है। त्रिकालीभाव परमभाव है।

द्रव्य परिणमन बिना का, उत्पाद-द्रव्य बिना का है। उसपर दृष्टिदेने की है। - ऐसा सुनकर शिष्यने प्रश्न किया : शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकर आत्मा मोक्ष का कर्ता नहीं है, तो ऐसा समझना चाहिए कि शुद्धनयकर मोक्ष ही नहीं है और जब मोक्ष ही नहीं तब यत्न करना वृथा है?

इसका उत्तर कहते हैं : वस्तु जो सत् चिद् त्रिकाल, वह स्वयं बंध-मोक्ष को नहीं करती है। परिणत हुई पर्याय में बंध-मोक्ष या मोक्षमार्ग है। शुद्ध निश्चयनय से वस्तु में बंध-मोक्ष नहीं है तो शुद्धनय से मोक्ष

का पुरुषार्थ भी नहीं है। मोक्ष है, वह बंधपूर्वक है। मोक्ष की पर्याय आत्मा में होती है, वह बंधपूर्वक है। बंध का उत्पाद होता है, उसका नाश होकर बाद में मोक्ष होता है। और जो बंध है, वह शुद्ध निश्चयनयकर होता ही नहीं। वस्तुस्वरूप से, शुद्ध निश्चयनय से बंध हो तो बंध कभी छूटे नहीं। शुद्ध निश्चय अर्थात् शुद्ध सत्त्व, वस्तु त्रिकाल एकरूप को (शुद्ध) नय से देखनेपर बंध होता ही नहीं। इस कारण बंध अभावरूप मोक्ष है, यह भी शुद्ध निश्चयनयकर नहीं है। जो शुद्ध निश्चय से बंध होता तो हमेशा बंधा ही रहता। कैसी बात है ! ध्रुव रहनेवाली वस्तु को, ध्रुव की दृष्टि से देखने में आवे और बंध इसमें होवे तो बंध भी ध्रुव रहे, ऐसा कहते हैं। बंध का अभाव कभी न हो सके। वस्तुरूप, नित्यपणे, ध्रुवरूप बंध होवे तो बंध का भी नाश न हो सके। इसके बारे में समझने के लिये दृष्टांत कहते हैं : कोई एक पुरुष साँकलसे बंध रहा है। और कोई एक पुरुष बंध रहित है। उनमें से जो पहले बंधा था उसको `मुक्त' ऐसा कहना ठीक मालूम पड़ता है। और दूसरा जो बंधा ही नहीं उसको जो `आप छूट गये' ऐसा कहा जाय तो वह क्रोध करे कि, मैं कब बंध था ! सो यह मुझे छूटा कहता है ? बंधा होवे वह छूटे। इसलिये बंधे को तो छूटा कहना ठीक है; और बंधा ही न हो उसे छूटा कैसे कह सकते हैं ? उसी प्रकार यह जीव शुद्ध निश्चयनयकर बंधा हुआ नहीं है। वस्तु जो है, तत्त्व है, है, वह है, सदृष है, एकीला सदृश गुण का सत्त्व है - द्रव्य सो कभी बंधा हुआ नहीं है। द्रव्य को बंधा हुआ कहना और द्रव्य को मुक्त कहना सो ठीक नहीं। बंध मुक्ति, उत्पाद-व्यय पर्याय बिना का द्रव्य, ऐसा भगवान परमात्मा शुद्ध निश्चयनय से भूतार्थ है। निश्चय से यथार्थ है। उसकी दृष्टि करने से, उसका अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है। देव-शास्त्र-गुरु तो बाहर रहे, विकल्प भी बाहर रहा और निश्चय-व्यवहार की पर्याय भी बाहर रह गई।

* दृष्टि को निमित्तपर रखने से सम्यग्दर्शन होता है ? - तीन काल में नहीं।

* दृष्टि को विकल्प, दया, दान, भक्ति, पूजा के भावपर रखने से सम्यग्दर्शन होता है ? - तीन काल में नहीं।

* दृष्टि को, क्षयोपशमज्ञान-वीर्यादि की जो पर्याय प्रगट है उस पर रखने से सम्यग्दर्शन होता है ? - तीन काल में नहीं।

बंध भी व्यवहारनयकर है। आत्मा की विकार में अटकी हुई राग की पर्याय भी व्यवहार से है। मुक्ति भी व्यवहारनय से है। शुद्ध निश्चयनयकर न बंध है, न मोक्ष है। अशुद्ध नयकर बंध है सो व्यवहारनय हुआ। बंध और मोक्ष की व्यवस्था, यह अशुद्धनय है। अशुद्धनय कहो या व्यवहारनय कहो, एक ही बात है। मोक्ष भी सद्भूत उपचरितव्यवहारनय का विषय है। मोक्ष की पर्याय जो है, यह स्वयं व्यवहार है। स्वभावआश्रित मोक्ष का मार्ग जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है सो पर्याय व्यवहार है। व्यवहार मोक्षमार्ग जो दया-दान का विकल्प सो व्यवहार की बात यहाँ नहीं है; वे तो बंधमार्ग में गये। कषाय की मंदता का परिणाम, भक्ति, पूजा, दया, दान, देव-शास्त्र-गुरु प्रति की श्रद्धा का भाव, सो राग तो बंध की पर्याय है, निश्चय में तो है ही नहीं। यह बंध का अभावरूप मोक्षमार्ग सो भी व्यवहार पर्याय है। उत्पाद-व्ययरूप पर्याय है, वह ध्रुव नहीं है। स्वभाव के आश्रित शुद्धोपयोग का परिणमन सो भी व्यवहार है। मोक्ष भी व्यवहार है। एक अपूर्ण पर्याय है, एक पूर्ण पर्याय है - दोनों व्यवहार है। पर्याय स्वयं व्यवहार है। आश्रय लेनेवाली पर्याय व्यवहार है। जिसका आश्रय लेने में आता है सो वस्तु निश्चय है। व्यवहार का अर्थ विकल्प और भेद नहीं; पर्याय अंश है इसलिये व्यवहार है। व्यवहार की व्याख्या क्या ? ध्रुव में उत्पाद-व्यय का होना सो व्यवहार है; यही सिद्धांत है। आगमपद्धति में दया, दान के भाव को व्यवहार कहते हैं। अध्यात्मपद्धति में तो शुद्ध पर्याय को व्यवहार कहते हैं। द्रव्य शुद्ध निश्चय है। द्रव्य जो है सो निष्क्रिय

है। त्रिकाली ध्रुव के अवलंबन से जो निर्मल पर्याय हुई, यह मोक्ष का मार्ग सक्रिय है। ध्रुव में सक्रियपना - परिणमन कहाँ है ? द्रव्यस्वभाव तो निष्क्रिय है। विकल्प है सो बंध का परिणमनरूप सक्रिय है। मोक्ष का मार्ग होवे सो निर्मल पर्यायरूप परिणाम, सक्रिय अवस्था है। और पूर्ण पर्याय मोक्षरूप सक्रिय अवस्था हुई।

अहो ! वीतरागकथित तत्त्व अलौकिक है ! अहो ! वीतराग द्वारा अनुभव किया हुआ पूर्ण मार्ग ! श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है न : ``अहो ! यह देह की रचना ! अहो ! यह चेतन का सामर्थ्य ! अहो ज्ञानी ! अहो ! ज्ञानी की गवेषणा ! अहो ! ज्ञानी का ध्यान ! अहो ! ज्ञानी की समाधि ! अहो ! उनके वचन का योग !'' - अंतर की बात में वीतरागता के भासमें ये उद्‌गार हैं ! अहा...हा...हा...हा...!

भगवान आत्मा, त्रिकाली तत्त्व, ऐसे निश्चयस्वरूप में सक्रियता या बंध-मोक्ष कैसे हो ? निश्चय मोक्षमार्गरूप परिणमन भी सक्रिय है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य द्रव्य निष्क्रिय है। निष्क्रिय अर्थात् परपदार्थ की क्रिया करे ऐसा नहीं, राग करे यह भी निष्क्रिय नहीं, लेकिन मोक्षमार्ग की पर्याय भी जिसमें नहीं है। वस्तु तत्त्व निष्क्रिय, वह मोक्ष की सक्रिय पर्याय को कैसे करे ? शुद्ध निश्चयनय से न बंध है, न मोक्ष है। वास्तव में अशुद्ध निश्चयनय से ही बंध है। अशुद्ध निश्चय अर्थात् व्यवहार पर्याय एकदेश शुद्धनय है अर्थात् व्यवहार है, इसलिये बंध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिए। अर्थात् ध्रुव का प्रयत्न अंतरलक्ष करना चाहिए।

यहाँ यह अभिप्राय है कि, सिद्ध समान अपना शुद्धात्मा, अर्थात् शुद्ध...शुद्ध...शुद्ध...द्रव्य वस्तु आत्मा, वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन पुरुषों को उपादेय है। भगवान आत्मा, उस ओर की बिना राग की श्रद्धा, ज्ञान और शांति, ऐसी अरागी - वीतरागी श्रद्धा, ज्ञान और शांति के काल में, यह आत्मा उपादेय अर्थात् दृष्टि में आता है।

यह पर्याय - बिना राग की हुई, निर्विकल्प अभेद परिणति हुई इस पर्याय में, शुद्धात्मापर लक्ष है, वह उपादेय है। ध्रुव उपादेय है।

भगवान आत्मा, वस्तु जो ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव...उसपर दृष्टि देनेवाली दशा, उसमें स्थिर होनेवाली दशा को निर्विकल्प शांति कहते हैं। उसमें यह (विद्यमान) द्रव्य उपादेय है, अन्य सब हेय हैं। क्षायिक सम्यक्त्व की पर्याय प्रगट होनेपर भी, द्रव्य की उपादेयता के काल में हेय है - एक ही बात है। क्षायिक सम्यक्त्व, जो द्रव्य के लक्षसे होता है सो भी हेय है; क्योंकि द्रव्य में ज़ोर देनेका है; उसमें से नयी पर्याय प्रगट होती है। क्षायिक समकित के लक्षसे चारित्र नहीं होता है। निश्चय मोक्षमार्ग हेय है, मोक्ष भी हेय है; द्रव्य ही उपादेय है। यह तो ``परमात्मप्रकाश'' है !! परमात्मा द्रव्य वस्तु एकमात्र आदरणीय है, अन्य कुछ आदरणीय नहीं।

वस्तु...वस्तु...वस्तु....शाश्वत आनंदधामरूप, ध्रुव द्रव्य, यह एक ही लक्ष करने योग्य है। और सब प्रगट हुई पर्याय भी लक्ष करने योग्य नहीं है। यह अपेक्षा से हेय कहने में आती हैं।

मुनि को छठवें गुणस्थान में तीन कषाय का अभावरूप चारित्र प्रगट है। उसको भी यह तीन कषाय का अभावरूप चारित्र उपादेय नहीं है। अहा...हा...हा...! क्योंकि द्रव्य अंतर में एकाकार पड़ा है - वही परमेश्वर द्रव्य, त्रिकाली ध्रुव आदरणीय है, अन्य कुछ आदरणीय नहीं है।

भगवान ! तू क्या अपूर्ण हो, जिससे तेरेको परके सहारे रहना पड़े ? भगवान आत्मा सत् शाश्वत ध्रुव है। उसके लक्ष से प्रगट हुई पर्याय, सो व्यवहार, भी हेय है। एक चिदानंद ध्रुव शाश्वत प्रभु, सो निज मंदिर में आदरने लायक है। भगवान आत्मा, द्रव्यार्थिकनय का विषय, अर्थात् द्रव्य वस्तु, महा परमेश्वर चैतन्य महाप्रभु, यह ध्रुव में लक्षकर अर्थात् उसको उपादेयकर, उसका आश्रय करना यही मोक्षमार्ग है, मोक्ष भी उससे होता है; इसलिये यही एक आदरणीय है।

दृष्टि का विषय

वस्तु त्रिकाली है, जिसके आश्रय से निर्मल पर्याय होती है। पर्याय के आश्रय से पर्याय निर्मल नहीं हो सकती। गुरु के वचनप्रति लक्ष जाता है तब तक निमित्त, शास्त्र, गुरु और ज्ञान सब विनाशी; लेकिन ध्रुव की ओर नज़र लगे तब ज्ञान अविनाशी होता है। अनुभव और सम्यग्दर्शन अवस्था है। उसको (सम्यग्दर्शन की पर्याय को) और आत्मा को त्रिकाली संबंध नहीं है। क्योंकि वह (अवस्था) बदल जाती है। दर्शन, निमित्त का स्वीकार नहीं करता है, परंतु बाद में उपचार से निमित्त कहने में आता है; पीछे से ज्ञान निमित्त को जानता है। दर्शन के समय निमित्त नहीं है। पीछे से निमित्त कहलाया। निमित्त को राग से जानता है तब तक ज्ञान विनाशी-अनित्य है। वह (विनाशी ज्ञान) अविनाशी को लाभ करता नहीं। वह तो पूर्व का उघाड़ (क्षयोपशम) है। खुदने ही जब स्वयं की ओर ढलकर निर्णय किया तब निमित्त कहने में आता है। जिस काल में अविनाशी ज्ञान होता है उस काल में निमित्त का सवाल (प्रश्न) ही नहीं रहता। निर्णय सामान्य के प्रति ढल गया, तत्काल संसार छूट गया। संसार छूटने का कारण द्रव्य स्वयं है। निर्णय होनेके बाद निमित्त कहनेमें आता है। ध्रुवशक्ति साध्य है, मोक्ष साध्य नहीं है। मोक्ष प्रगट होता है। प्रगट-अप्रगट पर्यायदृष्टि में होता है। ध्रुव नित्य प्रगट है। प्रगट-अप्रगट का सवाल ही वस्तु में नहीं। प्रगट-अप्रगट अवस्था में है। वस्तु ध्रुव तो नित्य प्रगट ही है। साध्य वस्तु, साधन निर्णय (व्यवहार)। ध्रुव लक्ष में आने पर सहज निर्मल अवस्था प्रगटती है। पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता, सहज हो जाता है। आश्रय पर्याय का कैसा? आश्रय स्वभाव का ! ध्रुव और मोक्ष दोनों साध्य होनेपर तो दो भंग पड़ जायें। दर्शन का विषय भंग (दो) नहीं है। सम्यग्दर्शन व केवलज्ञान खुल जाय सो निश्चय से आदरणीय

नहीं है। साध्य-साधन का भेद निश्चय में है ही नहीं। भेद का ज़ोर आवे तो अभेदपर ज़ोर नहीं आता।

-[गु. आत्मधर्म अंक १०-११में से उद्धृत. (हिन्दी अनुवाद)]

आत्मा द्रव्यदृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है, अर्थात् द्रव्यदृष्टि से पुण्य-पाप का विकार होने का सामर्थ्य आत्मा में नहीं है। पर्यायदृष्टि से परिणामी है, स्वभाव में शुद्ध पर्यायरूप भी परिणमता है। और अशुद्ध पर्यायरूप भी परिणमता है। शुद्ध वस्तु-दृष्टि से आत्मा अपरिणमन स्वरूप है अर्थात् कूटस्थ है; लेकिन तद्न कूटस्थ है ऐसा नहीं है; कथंचित् किसी अपेक्षा से कूटस्थ है और कथंचित् किसी अपेक्षा से परिणामी भी है। बंध और मोक्ष पर्याय है, सो निमित्त की अपेक्षा रखनेवाली पर्याय है। निरपेक्ष दृष्टि से आत्मा अपरिणामी है। अभेद दृष्टि से आत्मा अपरिणामी है। और द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद पाड़नेपर आत्मा में शुद्ध निरपेक्ष पर्याय है, इसलिये आत्मा परिणामी भी है। सिद्ध भगवंत के अनंत गुण में भी परिणमन हो रहा है, इसलिये आत्मा परिणामी है। लेकिन द्रव्यदृष्टि से - अभेद दृष्टि से आत्मा अपरिणामी है।

- [समयसार प्रवचन भाग-५. पृष्ठ ३५२-५३.
गाथा २८० के प्रवचनमें से उद्धृत. (हिन्दी अनुवाद)]